ओ३म

आर्योदय

स्वाध्याय अंक

श्रावणी २०२१

स्वाध्याय के आदर्श प्रेरक

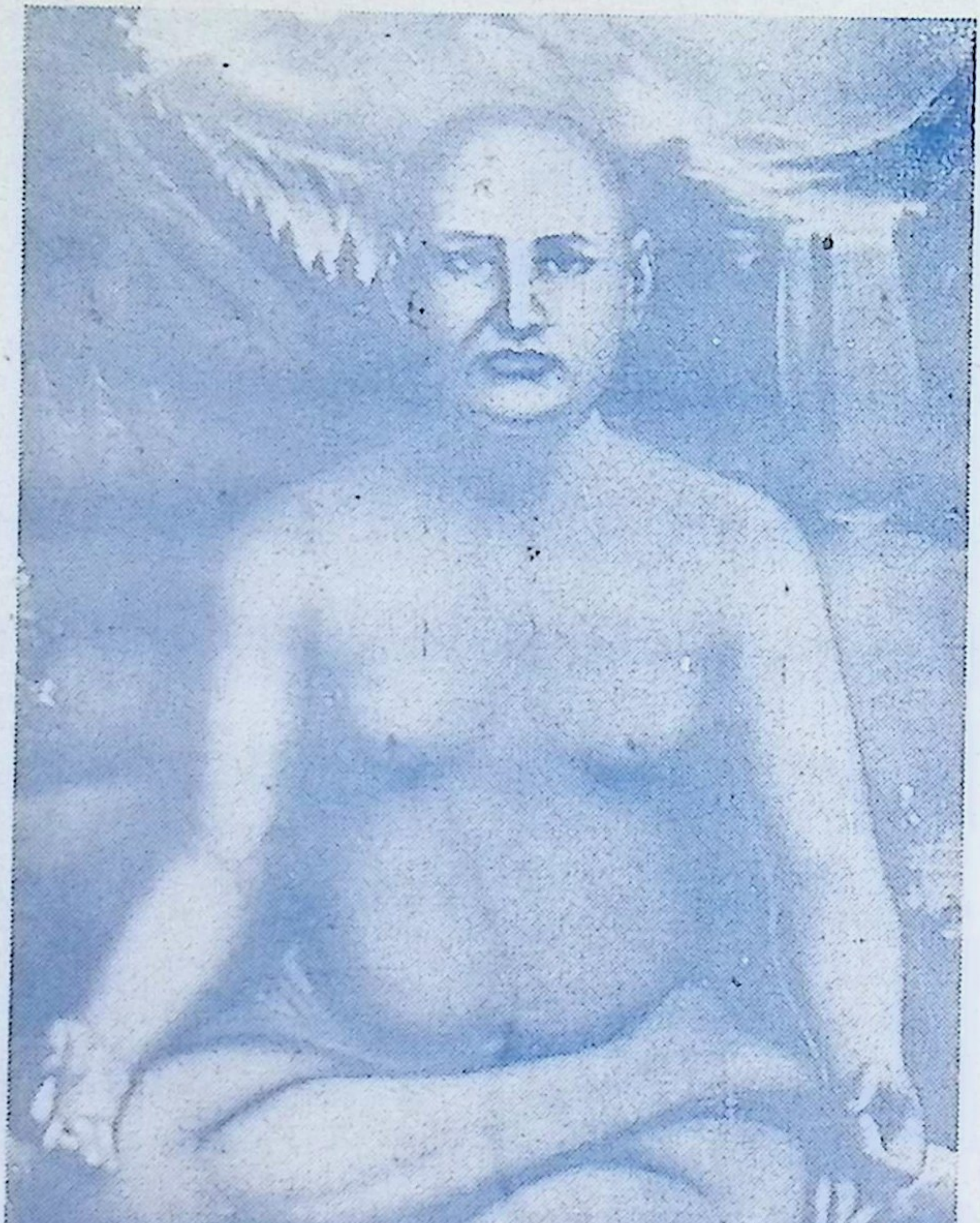

महर्षि दयानन्द सरस्वती

368

श्रावणी-वेद प्रचार सप्ताह

८ भाद्रपद सम्वत् २०२१

★

२३ अगस्त १९६४

★

सम्पादक

★

रघुवीरसिंह शास्त्री
सह
भारतेन्द्रनाथ

★

वार्षिक मूल्य ८)

★

एक प्रति का
२० पै०

★

इस अङ्क का
८० पैसे

★

आर्य प्रतिनिधि सभा
पंजाब का मुख-पत्र

★

कार्यालय –
१५ हनुमान रोड
नई दिल्ली

★

फोन ४०६८७

आर्योदय

ओ३म्

हिन्दी साप्ताहिक, नई-दिल्ली

हे प्रभु !

●

सब वेद पढ़ें,
सुविचार बढ़ें,
बल पाय चढ़ें,
सब ऊपर को।

अविरुद्ध रहें,
ऋजुपंथ गहें,
परिवार कहें,
वसुधा भर को।

ध्रुव धर्म धरें,
पर दुःख हरें,
तन त्याग तरें,
भवसागर को।

दिन फेर पिता,
वर दे सविता,
हम आर्य करें,
भू मंडल को।

—महाकवि शंकर

●

प्रार्थना

• •

सम्पति भरपूर कमाऊँ, चाहे सर्वस्व गँवाऊँ,
सुख हो या दुःख उठाऊँ, जुग जिऊँ, अभी मर जाऊँ,
नगरी का नागर बनूँ, बसूँ या वन में-
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मन में।

परिवार भले ही छोड़े, प्रिय पत्नी नाता तोड़े,
मुँह सम्पति क्यों न मरोड़े; शासन सब तीत निचोड़े,
कष्टों का कोप रहे कितना ही तन में-
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मन में।

दुखियों के दुःख निवारूँ; पतितों पर प्रेम प्रसारूँ,
बल सदा सत्य का धारूँ; बन वीर न हिम्मत हारूँ,
हो जरा-जीर्ण तन, या उमंग यौवन में-
पर, पाप न आए, हे प्रभु, मेरे मन में।

अन्याय-अनीति मिटाऊँ, सेवा-सन्मार्ग सुझाऊँ,
सद्भाव-सुधा बरसाऊँ, ममता-सुनीति सरसाऊँ,
यश हो या अपयश मिले मुझे जीवन में-
पर, पाप न आए है प्रभु, मेरे मन में।

• •

—डा० हरिशंकर शर्मा डी० लिट्०

329

इस अंक में पढ़िए

• • •

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. हे प्रभु (कविता)	महाकवि शंकर	१
२. प्रार्थना	डा० हरिशंकर शर्मा डी० लिट्	२
३. संपादकीय		[illegible]
४. अपनी बात		[illegible]
५. ईश्वर का स्वरूप	पं० शांति प्रकाश महोपदेशक	११
६. ऋषि दयानन्द और वेद	श्री पं० दामोदर जी सातवलेकर	१७
७. महर्षि व्यास द्वारा वेदान्त दर्शन में वैदिक त्रैतवाद का समर्थन	आचार्य जगदीशचन्द्र शास्त्री	३३
८. दर्शनों में भेद नहीं	आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री	[illegible]४
९. श्रावणी (कविता)	भैरव दत्त	६२
१०. वेद में इतिहास विचार	पं० मुनीश्वर सिद्धांत शिरोमणि	६३
११. स्वाध्याय (कविता)	रमाकांत एम० ए०	७४
१२. जीवात्मा	स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती	७५
१३. वेदवाणी (कविता)	"प्रणव" एम० ए०	८०
१४. वैदिक आश्रम व्यवस्था	आचार्य भगवानदेव जी	८१
१५. स्वाध्याय	कुसमाकर एम० ए०	८८

१६. संसार की एकता का आधार वेद	श्री रामनाथ वेदालंकार	८६
१७. ईश्वर की ज्ञान स्वतन्त्रता और जीव की कर्म स्वतन्त्रता	श्री जगदेवसिंह "सिद्धान्ती"	६५
१८. स्वाध्याय करो तो (कविता)	विद्यावती मिश्र	१०८
१६. आत्मा का स्वरूप	आचार्य उदयवीर शास्त्री	१०६
२०. शांति का वैदिक मार्ग	आचार्य विश्वश्रवा एम० ए०	१२१
२१. आर्यसमाज का लक्ष्य	श्री शिवपूजन सिंह	१२१
२२. गायत्री का जीवन में महत्त्व	श्री मदनमोहन विद्यासागर	१२६
२३. स्वाध्याय से लाभ	श्री "पन्नालाल पीयूष"	१४६
२४. वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों ?	श्री मनोहर विद्यालंकार	१४७
२५. देख उसे ——......	श्री प्रकाशचन्द्र कविरत्न	१५४
२६. स्वाध्याय से लाभ	डा० रामचरण महेन्द्र	१५५
२७. ज्योति-पुंज आर्यसमाज	पं० आनन्द प्रिय बी० ए०	१६१
२८. जीवन के चार अंग	श्री नारायणदत्त सिद्धांतालंकार	१६३
२६. वैदिक समाज व्यवस्था	पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	१७३
३०. मूर्तिपूजा की हानियां	पं० अमरसिंह शास्त्रार्थ महारथी	१७६
३१. प्राण प्यारा वेद जगत्	डा० सूर्यदेव एम० ए०	१८४
३२. बहनों का संकल्प ....—	राकेश साहित्यरत्न	१८५
३३. वैदिक समाज में नारी	श्री ईश्वरदत्त एम० ए०	१८७
३४. विश्व निर्माण में नारी का दायित्व	श्री प्रकाशवती शास्त्री एम० ए०	१६०

●

शिवकुमार शास्त्री मुद्रक व प्रकाशक के लिये सम्राट् प्रेस, देहली में मुद्रित

सम्पादकीय–

गूँजते शब्द

वेद विश्वपिता परमात्मा का ज्ञान है। यह दिव्यनिधि सर्गारम्भ में साक्षात्द्रष्टा चार ऋषियों के माध्यम से मानव-जाति को प्राप्त हुई थी। कल्प के अनेक तपोमूर्ति महात्मा ऋषि-मुनियों ने इस निधि में से निरन्तर परिश्रम एवं साधना से असंख्य बहुमूल्य रत्न चुने और उन्हें विभिन्न रूपों में साज-संवार कर मानव-सन्तति को समर्पित किया। कालचक्र के साथ अनेक परिवर्तन धराधाम पर आये, जबकि वाममार्गी विप्लवों के झंझावातों ने सारे जन-जीवन को झकझोर दिया; इस दिव्यनिधि की आभा भी धूमिल होती दीख पड़ी; तो विद्याव्रती विप्रों एवं धर्मधुरन्धर आचार्यों ने प्राणों की बाजी लगाकर अपने कंठकुहरों में इसे प्रश्रय दिया और स्वसन्तति अथवा शिष्य-परम्परा की विशाल व्यवस्था से इसकी रक्षा की। इन श्रुति सर्वस्व महात्माओं के प्रसाद ने ही यह पवित्र धरोहर करोड़ों वर्षों से कालगति के अमिनमों का आस्वादन करती हुई प्राणिमात्र के कल्याण के सन्देश के लिए मुखर रही है।

श्रुति प्रसारक महात्माओं की ब्रह्मा से प्रवर्तमान सुदीर्घ शृङ्खला की अन्तिम कड़ी महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज हैं। वर्तमान पीढ़ी के लिए इस दिव्यनिधि का द्वार उद्घाटित करने का पावन श्रेय इसी महात्मा को है। उनके संवेदनशील हृदय में यह देखकर बहुत भारी आघात लगा कि नास्तिकों से भी बढ़कर आस्तिकमन्य तत्त्व ही श्रुति के सन्देश को पददलित कर रहे हैं।

दयानन्द का दयार्द्र हृदय आस्तिकता के भाव के लिये व्याकुल हो उठा। एक हाथ में अखण्ड ब्रह्मचर्य की ज्वाला तथा दूसरे हाथ में श्रुति की दीप्ति लेकर वे कार्य-क्षेत्र में उतरे। धर्म तथा बुद्धि का विच्छिन्न सूल पुनः संयुक्त करके नास्तिकों एवं आस्तिकमान्यों का मानमर्दन किया। वेद-प्रचार की परम्परा को यथावत् चालू रखने के लिये 'आर्यसमाज' जैसी सप्राण संस्था की स्थापना की। अब यह उत्तरदायित्व महर्षि के उत्तराधिकारी आर्यसमाज के कन्धों पर है। संसार महर्षि के मनोरथों का विशद परिणमन आर्यसमाज में देखने को उत्सुक है। अपने आचार्य के ये शब्द हमारे कानों में गूँजते रहें—वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

इसी भावना को मूर्तरूप देने के लिए यह "स्वाध्याय-अंक" आपकी सेवा में प्रस्तुत है।

—रघुवीरसिंह शास्त्री

अपनी बात

'श्रावणी' का पर्व हमारे अंतर में ज्ञान-आलोक छितराने की प्रेरणा का शुभ दिन है। सृष्टि के आदि में इन्हीं दिनों पवित्र ज्ञान "वेद" का प्रकाश ऋषियों के अंतर में हुआ। उस ज्योतिर्मय ज्ञान को हम भूल न जाएँ, इसीलिए प्रतिवर्ष यह दिन हमें जगाता आता है। हमें भूले-बिसरे रत्न भंडार की याद दिलाता है और कहता है--भूलो नहीं "वेद" का प्रकाश तुम्हें संसार में फैलाना है।

वस्तुतः संसार का इससे बढ़कर और कोई उपकार नहीं हो सकता कि उसे वेद से परिचित करा दिया जाए। अन्य समस्याएँ तो फिर स्वयं ही सुलझ जाएँगी। इसीलिए युग-प्रवर्तक ऋषिवर दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में तीसरा नियम निर्धारित किया—**वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यों का परमधर्म है।**

ऋषि द्वारा निर्दिष्ट इस परम धर्म की उपेक्षा जीवन की, लक्ष्य की और कर्तव्य की उपेक्षा है। अतः महर्षि के उत्तराधिकारियों को अपना सारा बल केवल "वेद" प्रचार में ही लगाना चाहिए।

हम अनेक आंदोलन चलाते हैं, उन पर भारी व्यय भी करते हैं, बलिदान भी देते हैं किन्तु धीरे-धीरे जो हमारा परमधर्म था उसे भूलते जाते हैं। इस-लिए हमारी निश्चित दृढ़ सम्मति है कि **आर्य समाज की स्थापना केवल वेद प्रचार आंदोलन के लिए ही हुई थी** अतः उसे केवल यही एक आंदोलन चलाना चाहिए। देश-विदेश में जहाँ भी आर्यसमाज हैं, ऋषि दयानन्द के अनुयायी

हैं उनका परम कर्तव्य है कि वे अपने समस्त संभव साधनों से "वेद प्रचार आंदोलन" में लगें।

आर्यजन ! आप भले ही हम से रुष्ट हों किन्तु आज हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि हमने अपने स्वार्थों के मोह में पड़कर "वैदिक धर्म की जय" शब्दों में गुंजायी है 'वेद' के लिए जो करना चाहिए था, नहीं किया। श्रावणी के पावन दिवस पर यज्ञ वेदी पर बैठकर सोचिए कि यह पथ-भ्रष्टता क्या साधारण अपराध है ? यदि नहीं तो इस दिन से ही अपनी संकल्प भावना के साथ "वेद प्रचार यज्ञ" को संचालित करने का प्रण लीजिए।

घर में वेद लाइए

दूसरी प्रार्थना सभी से यह है कि हम देखें कि हमारे परिवार में 'वेद' हैं भी या नहीं। यदि नहीं हैं तो इससे बढ़कर लज्जा की बात हमारे लिए और क्या हो सकती है ! आप ही सोचिए।

बस, देरी का समय नहीं। श्रावणी २३ अगस्त के दिन जैसे भी हो **कम से कम वेद की एक मूल प्रति तो घर में अवश्य ही लाएं।**

"वेद" ही जीवन हमारा, वेद प्राणाधार है।

का गीत गाने वाले व्यक्ति के घर में "वेद" होना ही चाहिए।

इस प्रकार मूलतः यह पर्व 'वेद' प्रचार के संकल्प, वेद के प्रतिदिन के स्वाध्याय व्रत और आत्म निरीक्षण की भावनाओं के साथ सम्पादित होना चाहिए। गम्भीरता पूर्वक देखा जाए तो ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य है अपने को जानना। जो अपने को नहीं जानता वह अन्यों को कैसे जान सकता है ?

अपने को जानने के लिए जो साधन प्रयोग में लाए जाएं, उन्हें "स्वाध्याय" कहते हैं। इसीलिए हम श्रावणी के पर्व पर "स्वाध्याय अंक" पाठकों को भेंट करते हैं। हमारी इच्छा है कि आप इसे पढ़ें और विचार करें। देश के चुने हुए वैदिक विद्वानों ने वेद-शास्त्रों के अध्ययन से जो ज्ञान अर्जित किया है, उसे हम आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

इससे यदि ५-७ व्यक्तियों के हृदय में भी वैदिक धर्म के प्रति प्रेम और स्वाध्याय के प्रति रुचि जागृत हुयी तो हम समझेंगे कि प्रयत्न सफल हुआ।

हमने अपनी सामर्थ्य भर अंक को सुन्दर और खोजपूर्ण सामग्री से भरपूर बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी इसमें अनेक त्रुटियां रह गयी हैं जिनके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

अनेक उच्चकोटि के विद्वानों से मँगाए लेख स्थानाभाव और देरी से प्राप्त होने के कारण इसमें नहीं दिए जा सके। आशा है हमारी विवशता समझ आर्य विद्वान् हमें क्षमा करेंगे।

वेद प्रचार सप्ताह का कार्यक्रम

२३ अगस्त को श्रावणी का पर्व प्रातः यज्ञ के साथ आरम्भ होगा। यज्ञ विधि सम्पन्न करने के पश्चात् सभी उपस्थित महानुभावों को ५ मिनट आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। और अपना कोई एक दोष, यज्ञ की पावन वेदी पर छोड़ने का व्रत ग्रहण करना चाहिए। सर्वोत्तम यह है कि हम राग-द्वेष और फूट पिशाचिनी के त्याग का व्रत लें। यह दिन हैदराबाद बलिदान दिवस के रूप में भी मनाया जाता है। हमें अपने अमर शहीदों से प्रेरणा लेनी चाहिए।

मध्यान्होत्तर बहनें राखी लेकर उन भाइयों के पास जाएं जिन्होंने कहीं भी सजावट के लिए नारी चित्र लगा रखे हों और राखी बाँध कर बदले मे चित्र उतारने की प्रार्थना करें। यह एक रचनात्मक काम होगा। आशा है कि भाई भी इस कार्य के लिए बहनों को प्रेरित करेंगे।

रात्रि में "वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों ? विषय पर व्याख्यान कराएँ।"

२४ अगस्त—इस दिन रात्रि को "वैदिक धर्म की विशेषताएं विषय पर भाषण कराएं।

२५ अगस्त—व्याख्यान मत-मतान्तरों की हानियाँ—विषय पर।

२६ अगस्त—"ईश्वर का स्वरूप"—विषय पर।

२७ अगस्त—मूर्तिपूजा की हानियाँ—विषय पर।

२८ अगस्त—जीवन का लक्ष्य—विषय पर।

२९ अगस्त—धर्म का सच्चा स्वरूप—विषय पर।
३० अगस्त—कम्यूनिज्म—भौतिकवाद की हानियाँ—विषय पर।

व्याख्यान कराएँ।

३१ अगस्त को उत्साह पूर्वक योगीराज श्रीकृष्ण का जन्म-दिन मनाएँ और उनके सच्चे स्वरूप को जनता में प्रसारित करें।

इतना ध्यान रखें कि सारा ही कार्यक्रम वैदिक मंत्रों के आधार पर ही कथा या भाषण रूप में मनाया जाए।

आशा है कि सर्वत्र यह सप्ताह आशा-उत्साह और प्रभावशाली ढंग से मनाया जाएगा।

'आर्योदय' की बात

१२ अप्रैल १९६५ तक ३००० सदस्य बनाने का हमारा संकल्प है। इस समय तक जो प्रगति हुई है, वह संतोषजनक भले ही हो, पर पर्याप्त नहीं। हम बहुत चाह कर भी अभी मंजिल से दूर हैं और लक्ष्य पूर्ति के लिए प्रभु का भरोसा है और आर्य जनता पर विश्वास।

हम भली-भाँति जानते हैं कि जिस दिन भी नींद टूटेगी ३००० का लक्ष्य पूरा हो जाएगा, पर प्रश्न है कि नींद टूटेगी कब? बिहार के उत्साही सज्जनों ने एक छोटे से स्थान पर १०० प्रति, प्रति सप्ताह मँगा कर हमारा उत्साह बढ़ाया है। यदि देश के १०० आर्य समाज भी १०-१० प्रति-प्रति सप्ताह मंगाने लगें तो ८ दिन में लक्ष्य पूरा हो जाए। पर स्थिति तो यह है कि जिन समाजों के पास साधन हैं...ऊँचे भवन हैं, उन्हें इस ओर रुचि नहीं, और जो सहयोग देते हैं वे साधनों से शून्य होते हैं। फिर भी उनका उत्साह हमें प्रेरणा देता है।

आर्य समाज यदि लाखों की संख्या में साहित्य नहीं निकाल सकता तो उसे कोई शक्ति बढ़ा नहीं सकती। 'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' का लक्ष्य पूरा करना है तो संदेश गुंजाने के लिए साहित्य बाँटना होगा, फैलाना होगा। आर्य समाज का साप्ताहिक-मासिक लाखों छपे, उसे सभी पढ़ें और प्रेरणा लें यह स्थिति तो आनी ही चाहिए।

हमारा एकमात्र स्वप्न यह रहा है कि कुछ भी हो आर्य समाज का एक साप्ताहिक हमारे गौरव का कारण बने, पर पता नहीं कमी कहां है कि स्वप्न अधूरा ही रहता है। यह कैसे पूरा हो, इसके लिए हम आपके विचारों का स्वागत करेंगे।

प्रार्थना, आग्रह, निवेदन कुछ भी समझिए, आप सभी से यह है कि आप "आर्योदय" को आर्यसमाज का सन्देश-वाहक बनाने में हमारा हाथ बँटाइए और इसके लिए कम से कम १ नया सदस्य अवश्य ही बनाकर ३१ अगस्त तक भेजिए।

आप अपने नगर में एजेंसी लेकर भी लक्ष्य-पूर्ति में सहयोग दे सकते हैं।

अपनी आवश्यकताओं के विज्ञापन भी 'आर्योदय' में भेजिए। और किसी भी शुभ अवसर पर दान देते समय "आर्योदय" को न भूलिए।

वेद प्रचार भेजिए !

श्रावणी के दिन प्रत्येक परिवार अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य संख्या के अनुसार चार आना सदस्य के हिसाब से वेद प्रचार के लिए अवश्य निकालें। यह धन सीधा अपने-अपने प्रदेश की सभाओं के कार्यालय में भेजें। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा से संबंधित सदस्य आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब गुरुदत्त भवन जालंधर के पते पर संग्रहीत राशि भेजें।

रामसिंह एम० ए० — प्रधान

रघुवीरसिंह शास्त्री — मंत्री

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

ईश्वर का स्वरूप

श्री पं० शान्तिप्रकाश
(शास्त्रार्थ महारथी, वेद प्रचार अधिष्ठाता,
आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब)

प्रभु की लीला अपरंपार है। कौन गा सकता है उसका गान ? फिर भी विद्वान् लेखक ने भाव-भरे शब्दों में उस महान् का स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। हम उसे जानें तो फिर और जानने को रह ही क्या जाता है।

ईश्वरीय सत्ता सर्वमान्य है। नास्तिक भी उसके संचालित नियमों का उल्लंघन नहीं कर पाते। ईश्वर नियामक होने से यम कहलाता है। यम का दूत मृत्यु है। वेद में लिखा है :—

मृत्युर्यमस्यासी द् दूत: प्रचेत:।

चेताने वाला मृत्यु, यम नाम के नियामक परमेश्वर का दूत है। जो सर्वत्र मनुष्य और चौपाए पर छाया हुआ है। मृत्युरी द्वि पदां चतुष्पदाम्। मृत्यु दो पाऊं और चार पाऊँ वाले सभी प्राणियों पर विराजमान है। कौन नास्तिक है ? जो ईश्वरीय सत्ता से इनकारी होने के कारण उसके दूत मृत्यु से बच रहा हो। यदि अबोध बालक पिता की सत्ता से अनभिज्ञ हो तो इसे पितृ सत्ता के अभाव की सिद्धि का कारण नहीं माना जा सकता।

(२) हमारा शरीर बिना आत्म सत्ता के संचालित नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मांड के संचालनार्थ विश्वात्मा की सत्ता का भान होता है। जीवात्मा अणु और एक देशी तथा सीमित शक्ति के कारण विश्व की व्यवस्था का संचालक नहीं हो सकता। ब्रह्माण्ड की स्थिरता के कारण इसका व्यवस्थापक भी स्थिर ही हो सकता है। वेद ने इस सत्य का प्रकाश करते हुए कहा है कि :—

अवः परेण पर एना वरेण। ऋ० १।१६४।१०

इस अवर प्रतीयमान् जगत् से जीवात्मा अपनी चेतनता के कारण बड़ा है किन्तु महाचेतन प्रभु से यह छोटा है। अतः संसार का विश्वात्मा परमात्मा ही है।

(३) प्रकृति के अणु अपनी सूक्ष्मता के कारण परमाणु कहलाते हैं। जीवात्मा उनसे सूक्ष्मतर और परमात्मा सूक्ष्मतम है। उपनिषत्‌कार ने इस सिद्धान्त का विवाद वर्णन करते हुए कहा है कि :—

इन्द्रियेभ्यः परह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः।

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥ कठ०

इन्द्रियों से अर्थ सूक्ष्म है। अर्थों से मन तथा मन से बुद्धि सूक्ष्म है। वुद्धि से आत्मा और आत्मा से महान् आत्मा (परमात्मा) सूक्ष्म है।

(४) इस समस्त ब्रह्माणु का उत्पादक सर्वात्मा है, जो ज्ञानमय में है विना ज्ञान के संसार की नियमपूर्वक प्रवृत्ति असम्भव है। वेद में लिखा है कि :—

त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्।
ततो विश्वङ व्याक्रामत् साशनानशने अभि॥ यजु० ३१।४

चतुष्पाद पुरुष का एक पाद (वहिप्रज्ञ) इस लोक में प्रकट होता है। उससे भोगने वाला जीव-जगत् और भोग्य-जगत् अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होता है।

शरीर रूपी पुरी में शयन करने से जीव पुरुष है किन्तु ब्रह्माण्ड पुरी में व्याप्त होने से ईश्वर पुरुष है। इसीलिए इनको जीवात्मा और परमात्मा कहा जाता है। दोनों पुरुष हैं। किन्तु परमात्मा महान् और उत्तम है। वेद में कहा है कि :—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। यजु० ३१।-

मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो अजस्रज्योति है और अन्धकार से सर्वथा दूर है। उसको जान करके ही मनुष्य मृत्यु के दुःख को अतिक्रान्त कर सकता है। मोक्ष-प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

परमेश्वर ज्ञानमय है। ज्ञान-ज्योति से जगमगाता हुआ ही समस्त लोक-लोकान्तरों को नियम में चला रहा है। अतः वही एकमात्र भुवनों का प्रवर्तक है। प्रवृत्ति और उसका नियमपूर्वक संचालन परमात्मा की सिद्धि में सर्वतः प्रथम तर्क है जो अकाट्य है।

(५) प्रवृत्ति की युक्ति के पश्चात् धृति का प्रश्न है। परमात्मा धारक है। समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण कर रहा है। उन्हें समय से पूर्व टूटने-फूटने से बचाता है। वेद में लिखा है :—

हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषाविधेम ।।
यजु० ।

जिस परमात्म-तत्व में समस्त सूर्यादि लोक-लोकान्तर समाए हुए हैं। वही सबसे पूर्व वर्तमान सबका एकमात्र अधिपति है। वह अधीश्वर, प्रकाशमान् तथा अप्रकाशमान सब लोकों को धारण कर रहा है। उस सुख स्वरूप दिव्य-गुण-युक्त प्रभु के लिये हम श्रद्धा और भक्ति से पूजा करें।

सब लोक-लोकान्तर एक दूसरे के आकर्षणादिशक्ति से थमे हुए हैं। सूर्य ने पृथिवी को और पृथिवी ने सूर्य को आकर्षित कर रखा है। किन्तु यह आकर्षण भी किसी नियम विधान के आधीन है। जड़ पदार्थों को नियम में चलने चलाने का ज्ञान नहीं है। नियम में चलाकर धारण-शक्ति तो सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में ही है। वेद में स्पष्ट लिखा है कि :—

स्कंभेनेमे विष्टाभंते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कंभ इदं सर्व मात्मन्वद् यत्प्राणन्निमिषच्चयत् ।।
अथर्व० १०।८।२

धारण-कर्ता ईश्वर द्वारा ही द्यौलोक और भूमि-लोक धारित होकर थमे हुए हैं। प्राण लेने और आँख झपकने वाला आत्मवान् जगत् भी धारणकर्ता परमेश्वर मे आधारित है। अर्थात् चेतन-अचेतन सभी का धारक परमेश्वर है।

(क) प्रत्येक उत्पत्ति मान पदार्थ का नाश भी आवश्यक है। अतः प्रवृत्ति और धृतिकं पश्चात् निवृत्ति का क्रम है। परमारत्मा प्रवर्त्तक, धारक और निवर्श्रक है। पानी से मेघ और मेघ से पानी के चक्र की भान्ति प्रवृत्ति और निवृत्ति सदैव से चली आ रही है। किन्तु इसकी क्रमबद्धता ईश्वराधीन है। इसीलिये वेद में कहा है किः—

कालेनोदेतिसूर्यः काले निवशते पुनः । अथर्व० १६।५४।१

काल का काल ईश्वर है। उसके द्वारा ही सूर्य उदय होता अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग पकड़ता और उसी काल में पुनः निविष्ट होकर अपने काम में लीन हो जाता है।

परमात्मा सूर्यादि जगत् का निमित कारण है। उपादान कार प्रकृति है। परमात्मा को उपादान मानने से चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन का प्रादुर्भाव और लय असंभव कोटि में आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर दो विरोधी मार्ग हैं। इनका परस्पर समन्वय हो कर क्रमशः क्रियान्वित और कवहत होना जड़ प्रकृति का स्वतन्त्र धर्म प्रकृति और निवृति में से एक ही हो सकता है। वह या बनती जाए या बिगड़ती जाए। यान्त्रिक गति से चलने वाले यन्त्र भी स्वयं गतिमान् नहीं। वह भी किसी किसी मनुष्य के द्वारा बनाए जा कर गति करते हैं। इसी प्रकार सृष्टि प्रलय का चक्र भी किसी चेतन नियामक के आधीन है।

महर्षि व्यास जी का वचन है किः—

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। वेदान्त १।१।१,२

ब्रह्म वह है जिसके द्वारा संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है।

वेद ने परमेश्वर को सूत्र का सूत्र कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि वह नियम में बांधने वाला है। सब उसके नियम में बंधे हुए हैं।

यो विद्यात् सूत्तं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सुसूत्रं स्यात्रयो विद्यात् सो विद्यात् ब्राह्मणं महत् ।। अथर्व० १० । ८ । २७

जो प्रत्येक वैज्ञानिक क्षेत्र में विस्तृत सूत्र को जानता है । और उस सूत्र के सूत्र को जानता है । वह परब्रह्मा को जानता है ।

संसार की स्थिति नियमों पर है । नियमों के समुञ्चय को ही विज्ञान कहते हैं । कृषि-विज्ञान, नक्षत्र विज्ञानादि प्रत्येक विज्ञान का पारस्परिक संश्लेष है । इन सब संश्लेषों का परम संश्लेष ब्रह्मा विज्ञान है । जिसे वेद ने महत् कहा है । जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है ; विज्ञान हेय नहीं किन्तु उसका परम ध्येय परमेश्वर माना गया है । यही वेद की विशेषता है ।

(ई) ईश्वर कर्मफल प्रदाता है । कर्म भी स्वयं फलदाता नहीं । वह नष्ट हो चुका । उसका संस्कार चित्त में शेष है । यदि संस्कार को फल प्रदाता मानें तो यह भी सम्भव नहीं । संस्कार को फल प्राप्ति के साथ नष्ट हो जाना है । नश्वर वस्तु अनश्वर जीव के कर्म फल का प्रदाता नहीं हो सकती । जड़ होने से कर्म और संस्कार को अपने फल का ज्ञान भी नहीं है । अतः कर्म फलप्राप्ति भी महाज्ञानी ईश्वर के आधीन है । जो किसी की सिफारिश आदि को स्वीकार नहीं करता ।

न किल्विषमत्रन आधारो ऽस्ति नयन्मित्रैः सममान एति ।
अनूनं पात्तं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविवृति ।। अथर्व

परमेश्वर को न्याय व्यवस्था में कोई दोष नहीं,कोई सिफारिस नहीं । यहाँ न मित्रों की चलती है, न महापुरुषों बाप-दादे की चलती है । चित्र के अनून पात्र (खेत) में कर्मों का बीज आत्मा ने बोया वैसा ही उसको फल काटना होगा ।

वेद ने इस उपमा में अधिभौतिक और अध्यात्मिक नियमों को एक ही लड़ी में पिरो दिया है । जैसे पृथिवी में डाला हुआ बीज समय पाकर फल बनाता है वैसे ही चित्र में डाला हुआ कर्म संस्कार समय पाकर पारिपाक भी देता है । गीता में लिखा है कि—:

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रयाते महतो भयात् ।। गीता २ । ४०

इस संसार में कुछ भी किया हुआ नष्ट नहीं होता । परिपाक का प्रतिबन्धक कोई कारण नहीं । अतः इसके वृत पुण्य का स्वरूपमात्र भी महान् भय से बचा देता है ।

परमेश्वर वेद-ज्ञान का दाता है । जिससे संसार में सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ । सत्यधर्म का प्रवर्तक भी भगवान् है क्योंकि वह स्वयं सत्यधर्मा है । वेद ने कहा कि—

निवेशनः संज्ञमनो वसूजा देव इव सविता सत्यधर्मा । अथर्व० १०.८४२

प्रेरक प्रभु का धर्म अटल है । वही वेद ज्ञान का दाता और समस्त पदार्थों का निवेशक है ।

पदार्थ रच कर पदार्थ विद्या का प्रदान उस प्रभु की देन है । अन्यथा पदार्थ रचना क्रिया व्यर्थ थी । वेद नें कहा है —

अच्छिन्नस्यते देव सोम सुवीर्यस्य रामस्योवस्यददितार स्याम ।
सा प्रथमा सस्कृतिविश्ववारा स प्रथमो वरुणोमित्रोग्निः ।। यजु०

हे सौम्य गुण-युक्त देव प्रभो ! आपकी विनष्ट न होने वाली, महती शक्ति दात्री, विश्ववरणीय, प्रकृष्ट संस्कृति के हम लुटाने वाले बनें । उस संस्कृति, का सतत दान करते चलें ताकि संसार के प्रियतम, न्यायकारी, दयालु, ज्ञानस्वरूप प्रभु का ज्ञान एक सभ्यता का संचार करके सबको एक सूत्र में पिरो दें ।

वेदान्त दर्शन में महर्षि व्यास ने इसी युक्ति का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

शास्त्रयोनित्वात् । वेदान्त शास्त्र

(शेष लेख पृष्ठ १२६ पर देखें)

ऋषि दयानन्द और वेद

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
(अध्यक्ष स्वाध्याय मण्डल पारड़ी जि० सूरत)

महर्षि के आगमन से पूर्व भारत में पौराणिकों का भ्रम जाल छाया था। सभी अपने-अपने स्वार्थ के आधार पर "वेद" का उपयोग कर रहे थे। ऐसे में ऋषि दयानन्द ने अपने प्रकांड पांडित्य, प्रखर प्रतिभा और अदम्य उत्साह से "वेद-प्रकाश" की किरणें सर्वत्र फैलाने के लिए ऐतिहासिक योगदान दिया। इन सभी परिस्थितियों की विवेचना करते हुए वेद और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक ने ऋषि मंतव्यों की पुष्टि में वेद के प्रमाण प्रस्तुत कर सभी को वेद की भावनाओं के प्रचार का निमंत्रण दिया है— —सम्पादक

ऋषि दयानन्द जी को अपने सच्चे वैदिक सिद्धान्तों को आर्य जगत् के सामने प्रस्थापित करने के लिए किन के साथ वाग्युद्ध करना पड़ा, यह वृत्तांत बहुत ही थोड़े लोगों को आज मालूम है। इस कारण इस परिस्थिति पर प्रथम थोड़ा सा प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है। इससे पता लग जायगा कि महर्षि को किस प्रकार की कठिन परिस्थिति के साथ मुकाबला करना पड़ा था।

वेदपाठी ब्राह्मण

काशी में, महाराष्ट्र में तथा कर्णाटक आन्ध्र आदि दक्षिण भारत में वेदपाठी ब्राह्मणों का वर्चस्व बहुत ही था। उस समय के ब्राह्मण समझते थे कि—

ब्राह्मणेन निष्कारणो वेदोऽध्येयः

ब्राह्मण के घर उत्पन्न होने वाले पुरुष को विशेष लाभ न हो सकने की अवस्था में भी वेदों का पठन अवश्य करना चाहिए। इस नियम के अनुसार ब्राह्मण वेद का पठन करते थे। और हमने अपना कर्तव्य पूर्ण किया ऐसा मानते थे। इन वेदपाठी पण्डितों का सम्मान हिन्दु समाज में उस समय बड़ा होता था। वेदपाठी ब्राह्मणों को अपने घर बैठे-बैठे ही जनता के घरों में उपनयन विवाह आदि संस्कार हुए तो योग्य दक्षिणा पहुँचाई जाती थी। इस तरह ये वेदपाठी समाज से बहुत सम्मान प्राप्त करते थे।

इन वेदपाठियों के कारण वेद ग्रंथ जीवित रहे, यह सत्य है, पर आश्चर्य की बात यह है कि इन सहस्रों वेदपाठियों में एक भी ब्राह्मण वेद का सत्य अर्थ जानने का यत्न भी नहीं करता था! यह अपने धर्म ग्रंथ के विषय की उदासीनता कितनी आश्चर्यकारक है?

उन सब वेदपाठियों का पूर्ण विश्वास था कि इस तरह के अर्थ ज्ञानहीन वेद के कण्ठ करने से ही अपने जीवन का परम सार्थक होगा। इस केवल वेद-पाठ का महत्व इतना माना जाता था कि पेशवाओं के राज्य शासन में उनके खजाने से १५ पद्रह लक्ष रु० की वार्षिक दक्षिणा इन वेदपाठियों को दी जाती थी।

पेशवाओं के समय के पंद्रह लाख रुपया आज के एक करोड़ रुपयों से अधिक मूल्य के हैं। इस दक्षिणा को प्राप्त करके सहस्रों ब्राह्मण वेद को कंठ करते थे और आनन्द से रहते थे। पर इनमें से किसी एक को भी वेद का सत्य अर्थ जानने की अभिलाषा भी नहीं हुई। यह निःसंदेह आश्चर्य करने योग्य बात है।

सब ब्राह्मण वेद को कण्ठ करते थे और दक्षिणा लेकर आनन्दित होते थे और सुख से रहते थे। परन्तु कोई एक भी वेद में कौन सा धर्म किस रीति

से कहा है, इसके जानने की इच्छा तक नहीं करता था। इस अज्ञान से यह हुआ कि वेद में **'शिस्तयुक्त सेना बल रखने का उपदेश है,'** पर यह न जानने के कारण पेशवाओं का सैन्य शिस्त हीन रहा। और अंग्रेज यहाँ आये, उन्होंने यहीं के सैनिक शिस्तबद्ध रीति से तैयार किये और उस शिस्तबद्ध सेना से पेशवाओं के शिस्त रहित सेना का पराभव किया। इससे भारत देश परतन्त्र हुआ। वेद के अज्ञान का यह ऐसा घोर अनर्थकारक परिणाम भारतीयों को भोगना पड़ा।

वेद का ठीक ज्ञान होता तो ऐसा न होता। वेद का योग्य ज्ञान न होने से हमारे भारत देश का ऐसा नुकसान हुआ है और भारत को पारतन्त्र्य की यातनाएं भोगनी पड़ी हैं। पर इस पर कोई ध्यान तक नहीं देते थे। इतना अज्ञान भारतीयों में था !

वेद का अर्थ होता है इसका भी ज्ञान किसी को नहीं था ! स्वधर्म ग्रन्थ को न जानना, परन्तु उसको अत्यन्त सम्मान से रखना यह उस समय का व्यवहार था। स्वधर्म ग्रन्थ में क्या उपदेश है, यह उपदेश अवश्य जानना चाहिये, यह भी किसी के मन में नहीं आया था, यह कमाल की, आश्चर्य की अवस्था है इसमें सन्देह ही नहीं है। परन्तु सर्वत्र यही अवस्था थी।

कर्मकाण्डी याज्ञिक

इसके पश्चात् कर्मकाण्डी याज्ञिकों का स्थान समाज में बड़ा सम्मानित था। उनका विश्वास ऐसा था कि—

वेदाहि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ताः।

वेद यज्ञ कर्म करने के लिए ही निर्माण हुए हैं। वेदपाठ के साथ यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है ऐसा सबका विश्वास था। कहा है कि—

स्वर्गकामो यजेत

जिसको स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा है, वह यज्ञ करे। और यज्ञ से स्वर्ग प्राप्त करे। इस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अनेक यज्ञ किये जाते थे। कई यज्ञ एक दिन में समाप्त होने वाले थे, कई **'दशाह'** यज्ञ थे जो दस दिनों में समाप्त

होते थे। ऐसे छोटे या बड़े अनेक प्रकार के यज्ञ रचे गये थे। वेद को कण्ठस्थ करने वाले और कर्मकाण्डी ब्राह्मण एकत्रित होकर ये अनेक प्रकार के यज्ञ करते थे। इनमें पशुयाग भी होते थे। गौ को 'अघ्न्या' अर्थात् अवध्य वेद ने कहा है, पर उनका भी वध करने की कुप्रथा कई मूर्खों ने शुरू की थी! यह अत्यन्त आश्चर्य करने योग्य अवस्था आ पहुँची थी। यज्ञ में पशु याग करने से पशु को और यजमान को स्वर्ग मिलेगा ऐसी श्रद्धा ये लोग रखते थे।

किसी ने कुछ आशंका की तो उसको नास्तिक करके ये लोग निंदा करते थे। **'नास्तिको वेदनिंदकः'** यह कहावत सुप्रसिद्ध है। ये वेदपाठी और कर्मकाण्डी लोग अपने आप को पूर्णतया धार्मिक मानते थे। पर इनमें वेद-विषय कमाल का अज्ञान था।

पौराणिक पण्डित

वेदों में जो वृत्रवध आदि वर्णन हैं, उन आलंकारिक वर्णनों को सजा कर नाना प्रकार की कथाएँ बनायी गयीं और उन कथाओं के संग्रहों को 'पुराण' नाम दिया गया। इन पुराणों को पढ़ने वाले और उन कथायों को स्त्री-पुरुषों के समाज में कह कर श्रोतृ समाज से प्राप्त हुए दान पर अपना चरितार्थ चलाने वाले पौराणिक भी उस समय समाज में बहुत थे। इनके प्रवचनों के कारण इन पुराण कथाओं को जानने वाले अन्धविश्वासी भी समाज में बहुत थे। ये लोग इन कथाओं को सत्य मानते तथा इन पर विश्वास रखने से अपना तारण होगा ऐसा समझते थे। परन्तु मूल आधार जो वेद है, उसमें इन कथाओं का तात्पर्य क्या है, इसके जानने का यत्न कोई करता नहीं था, ऐसी अज्ञानमय अवस्था में ये पौराणिक लोग थे।

मूर्तिपूजक

अखिल भारत में चारों प्रान्तों में मूर्तिपूजक बहुत ही थे। वे अपनी मूर्ति की पूजा करने से सब प्रकार का सुख प्राप्त होगा ऐसा दृढ़ विश्वास रखते थे। एक मूर्ति का पूजक अन्य मूर्तियों का तथा अन्य मूर्तियों के पूजकों से द्वेष करता था। इस आपसी द्वेष को दूर करने के लिए कई मूर्ति पूजकों ने अनेक उपाय भी किये थे। जैसे **'पंचायतन पूजा'** यह उपाय था शैव, वैष्णव, गाणों-

पत्य, सूर्य और दुर्गा पूजकों को एक करना और उनमें बढ़ने वाला द्वेष दूर करना। 'हरि' विष्णु है और 'हर' महादेव है। वैष्णव और शैवों में बड़ा द्वेष था। इस द्वेष को दूर करने के लिए 'हरिहर' की मूर्ति बनाई गई। जिसमें एक अंग विष्णु का और दूसरा अंग महादेव का था। मूर्ति के दांये भाग में विष्णु का और बांये भाग में शंकर का दर्शन हो ऐसी यह 'हरिहर' की मूर्ति थी। इस मूर्ति को देखकर यह मालूम होगा कि विष्णु और महादेव एक ही हैं, विभिन्न नहीं हैं। इस तरह शैव वैष्णवों का आपस का द्वेष दूर करने का प्रयत्न हुआ। यह 'हरिहर' की मूर्ति हरिहर नगर में कर्नाटक में है। ऐसा प्रयत्न करने पर भी शैव-वैष्णवों का द्वेष दूर नहीं हुआ। इसका एक उदाहरण ऐसा हुआ था—

एक कट्टर वैष्णव हरिहर में गया था। वहाँ विष्णु की मूर्ति नहीं थी, अतः वह हरिहर' के मन्दिर में जाकर अपनी पूजा करने लगा। विष्णु की मूर्ति जिस ओर थी उसी की ओर वह अपने स्नान, चन्दन, पुष्प आदि भोग समर्पित करने लगा। शिव की बाजू को उन्होंने स्नान, चन्दन फूल आदि नहीं लगाये। अब धूप दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ, तब उसने शंकर के नाक में चन्दन भर दिया और पश्चात् धूप दिखाया, इसके मन में यह उद्देश था कि अपने दिये धूप का सुगंध शिवजी को न मिले। इतना आपस का द्वेष शैव-वैष्णवों में बढ़ गया था। यह पराकाष्ठा की अवस्था थी।

मूल देवता क्या है, सब देवता मिलकर एक ही परमेश्वर है। इत्यादि सत्य सनातन वैदिक ज्ञान से मूर्तिपूजक बहुत दूर चले गये थे और विग्रह को ही अपना इष्ट देव मानकर उसी से चिपक गये थे। प्रायः ऐसे ही अज्ञानी लोग उस समय भारतवर्ष में थे। जो स्वयं सत्यज्ञान जानते नहीं थे, इतना ही नहीं, परन्तु यदि कोई कहने लगा, तो उसका निरादर भी अधिक से अधिक वे किया करते थे।

ऐसे अज्ञानी हिन्दु समाज को सत्य ज्ञान देने वाले और उसको जगाने का कार्य करने वाले कई सुधारक इस समय उत्पन्न हुए थे। और ये इस अज्ञान निद्रा में सोये हिन्दु समाज को जगाने का कार्य कर भी रहे थे। पर इस समय प्रचण्ड वीर्यवान् धर्म संस्थापक की अत्यन्त आवश्यकता थी।

सुधारकों के दो भाग थे

भारतवर्ष में जो हिन्दु जाता थी, उसमें इस अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलित होने से दो प्रकार के सुधारक उत्पन्न हुए थे। सुधारकों का एक पक्ष कहने लगा था—अपने पास लेने योग्य कुछ भी नहीं है, अतः हिन्दु धर्म की सब बातें निरर्थक होने से सब त्याज्य हैं।

पर दूसरा पक्ष ऐसा था कि जिसके अनुयायी श्री राजा राममोहन राय बंगाल में तथा बम्बई, पूना की ओर श्री महादेव गोविंद रानाडे थे। जो ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि स्थापन करके, उपनिषद्, श्रीमद्भागवद्गीता आदि मानवीय ग्रन्थों का आश्रय करके अपने हिन्दु समाज में आवश्यक सुधार करने की इच्छा करते थे। ये सुधारक संयुक्तिक उपासना होती रहे ऐसे मार्ग को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे।

इस प्रकार इस समय भारतवर्ष में हिन्दु धर्म की अत्यंत शिथिल अवस्था हो गयी थी। धर्म के आधार समझने वाले वेदपाठ, कर्मकाण्डी याज्ञिक, पौराणिक और मूर्ति पूजक ये सब के सब अपने अति प्राचीन सनातन वैदिक धर्म का सत्य तत्वज्ञान को बिलकुल जानते नहीं थे। इन धार्मिक लोगों में 'शास्त्री' थे, वे संस्कृत भाषा को जानते थे, वे यदि यत्न करते तो वेद का ज्ञान जान सकते थे, पर वे अपने-अपने न्याय, वैशेषिक शास्त्र में मस्त रहते थे। अतः संस्कृत जानने वाले होने पर भी वेद ज्ञान से पराङ्मुख रहे, और वेदपाठी, कर्मकांडी ये तो संस्कृत भी जानते ही नहीं थे, अतः वेद का ज्ञान जानना उनके लिये असंभव वहुत था, पर सच्चा वैदिक ज्ञान बिलकुल नहीं था।

अपने वेद रूपी पवित्र धर्मग्रन्थ का ज्ञान अपने को अवश्य रहना चाहिये, इतना भी भाव उनमें नहीं था। क्योंकि वे अपने अपने व्यवसाय में परम संतुष्ट थे। स्वधर्म-ग्रन्थ का भी ज्ञान न होने की अवस्था निन्दनीय है यह भी उनको पता नहीं था। इनके अज्ञान की यह परमावधि थी। वेद स्वयं वेद-ज्ञान का महत्व वर्णन करता है, देखिये—

उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचं ।
उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे ।
तायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ऋ० १०।७१४

'कोई मूर्ख वेद को देखता है, पर उसके अज्ञान के कारण वह न दीखने के समान उसको है। दूसरा कोई मूर्ख वेद को सुनता है पर वह सुनना उसके लिये न सुनने के समान ही होता है। परन्तु जो वेद-वाणी ऐसा आनन्द देती है जैसी सुवासिनी पत्नी अपने प्रिय पति को आनन्द देती है।' यह वेद को जानने का फल है। तथा और देखिये—

स्थाणुरयं भार हारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं योऽ भिजानाति नार्थम् ।
यो अर्थज्ञः सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा ॥

'जो वेद कण्ठ करता है, पर उसका अर्थ नहीं जानता वह भार उठाने वाला लकड़ी का खम्भा जैसा है। पर जो अर्थ जानता है वह सब प्रकार का कल्याण प्राप्त कर सकता है। वेद-ज्ञान से उसके सब पाप धोये जाते हैं, वह निष्पाप बनना है और वह स्वर्ग को पहुँचता है।

इस तरह वेदका ज्ञान न होने की निन्दा वेद ने ही की है। वेदपाठी लोग इन मंत्रों को कण्ठ करते थे और बोलते भी थे, परन्तु स्वयं वेद के अर्थ को जानने का यत्न भी नहीं करते थे। ऐसे भयंकर अज्ञान के समय भारत राष्ट्र की धार्मिक, राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक जागृति करने के लिये महर्षि स्वामी दयानन्द जी भारत राष्ट्र में अन्धेरी रात्रि में सहस्र रश्मी सूर्य का उदय होने के समान, उदित हुए।

इस पूर्व इतिहास को देखने से पता लग सकता है कि उनको सच्चे वैदिक धर्म की स्थापना करने में कितने कष्ट हुए होंगे। इन कष्टों की कल्पना पाठक अच्छी तरह कर सकते हैं। वे वेद पाठ राष्ट्रोद्धार के लिये पर्याप्त है, ऐसा मानते थ, कर्मकांडी याजक समझते थे कि अपने हाथ में स्वर्ग धाम का मार्ग आया है।

पौराणिक लोग कथा श्रवण करने से सब प्रगति होगी ऐसा विश्वास धारण कर रहे थे, तथा अंग्रेजी जानने वाले सुधारक सब धर्म बंधन को छोड़ देने के लिये कटिवद्ध हुए थे। ऐसे कठिनतम समय में ऋषि दयानन्द जी ने वेद के सत्य सनातन मानव धर्म की जागृति की। यह एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हुआ और इसी से आज चारों ओर के लोग वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हुए, ऐसा दीखता है।

बंगाल की ओर श्री राजा राममोहन राय और बंबई पूना की ओर श्रीमहादेव गोविंद रानडे आदि बड़े सुधारक गीता और उपनिषदों की ओर आकर्षित होकर कार्य कर रहे थे। पर मूल पवित्र वेद की ओर जनता को आकृष्ट करने का महत्वपूर्ण कार्य पूजनीय ऋषि दयानन्द जी ने ही उत्तम यशस्विता के साथ किया, अतः इस धर्म जागृति का संपूर्ण श्रेय ऋषि दयानन्द जी को ही है।

वेद अपना मुख्य धर्म ग्रंथ है, वेद में संपूर्ण मानवों का मुख्य धर्म कहा है। वेद में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भावों से सनातन विश्व धर्म के सब तत्त्व उत्तम रीति से कहे हैं, वेद में मूर्तिपूजा नहीं है, वैदिक यज्ञ याग में हिंसा विल्कुल नहीं है, इस तरह वेद के मन्त्र शुद्ध सनातन मानव धर्म बताते हैं, उसको देखने और उसके अनुष्ठान से मानव का सच्चा कल्याण हो सकता है।

इत्यादि सत्य वैदिक धर्म का प्रतिपादन प्रवल निश्चय से ऋषि दयानन्द जी ने अपने शुद्ध शास्त्रीय प्रतिपादन से ऐसे जोर से किया कि उसका खंडन विद्वान से विद्वान वेदपाठी, कर्मकांडी, शास्त्री या पौराणिक किसी तरह भी करने में असमर्थ सिद्ध हुए। काशी, प्रयाग में तथा अन्यत्र भी अनेक शास्त्रार्थ हुए। परन्तु एक स्थान पर भी इन पौराणिकों से एक प्रश्न का भी सरल उत्तर न दिया जा सका।

इसी तरह श्री महादेव गोविन्द रानडे जी की अध्यक्षता में जिस समय ऋषि दयानन्द जी के वैदिक धर्म पर व्याख्यान हुए, उस समय वहाँ के पंडित लोग सभा में निरुत्तर हुए, अतः उन्होंने स्वामी दयानन्द जी की कुचेष्टा करने के लिए पूना में '**गर्दभानन्द सरस्वती**' का जुलूस निकाला। पर इससे ऋषि प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों का तो खंडन नहीं हुआ, इतना ही नहीं, पर पौराणिक

लोग ऋषि प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का खंडन नहीं कर सके, इससे लिये वे ऐसा उपहास कर रहे हैं, यह सार्वजनिक रीति से सिद्ध हुआ !!

वेद के विषय में शोभन कल्पना

वेद सब सत्य विद्याओं का आदि मूल है ।' यह ऋषि ने प्रतिपादन किया। यही आज सब मानने लगे हैं। वेद के विषय में जो रूढ कल्पना थी, अर्थात् वेद में मंत्र,जादू,टोना;हिंसामय यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति इत्यादि है ऐसा जो माना जाता था, वह सब असत्य है और वेद का सत्य अर्थ वैदिक पदों के यौगिक अर्थ स्वीकार करने से ही ज्ञात हो सकता है। यह ऋषि दयानन्द जी का प्रतिपादन त्रिकाला-बाधित सत्य सिद्ध हुआ है। उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक तथा निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थ इसकी साक्षी दे रहे हैं।

श्री सायनाचार्य जी ने वेदों का जो अर्थ किया है वह केवल कर्मकाण्डपरक ही अर्थ है, अतएव वह अपूर्ण है। वैदिक पदों का सत्य अर्थ यौगिक है, ऐसा सबसे प्रथम प्रतिपादन ऋषि दयानन्द जी ने ही किया। जिसको लेकर श्री योगी अरविंद जी, कपासी शास्त्री जी आदि ने वेद मन्त्रों के गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन कितना उत्तम तथा कितना विस्तृत किया है। वह देखने योग्य है।

श्री योगी अरविंद जी तो ऋषि दयानन्द जी को सच्चा द्रष्टा मानते थे। वेद-मन्त्रों के गूढ़ गम्भीर अर्थ ऋषि दयानन्द जी के बताये मार्ग से ही सुविदित होते हैं। आज तक ऋषि दयानन्द जी का बताया मार्ग किसी दूसरे ने नहीं बताया था और वैसी वेदार्थ करने की शैली भी किसी दूसरे आचार्य ने नहीं बतायी। इस अद्‌भुत मंत्रार्थ दर्शन के मार्ग को बताना ऋषिदयानन्द की दिव्य-दृष्टि का ही कार्य है।

ईश्वर के सच्चे सेवक बनो, ईश्वरी की सेवा करो, निसर्ग पर स्वामित्व करो, हे भारतीय आर्यो ! इस जगत् में मत सो जाओ, उठो, खड़े रहो, निरुत्साह न बनो, दिग्विजयी बनो। इस तरह का विजयी शक्ति का तथा दृढ़ निश्चय का योग्य संदेश भारत को ऋषि दयानन्द जी ने दिया है। आत्मप्रकाश का यह

वैदिक संदेश देने के लिए ही ऋषि दयानन्द जी आये थे, इसमें संदेह नहीं है।

श्री सायनाचार्य जी ने तथा युरोपीयन पंडितों ने वेद निसर्ग शक्तियों की उपासना बता रहा है, ऐसा कहा था। परन्तु ऋषि दयानन्द जी ने ये ही वेद 'अग्नि' आदि देवताओं के नामों से परमात्मा के दिव्य ज्ञान का संदेश देता है, ऐसा वैदिक प्रमाणों के आधार से तथा युक्ति प्रमाणों से सिद्ध किया, जो ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पहिले से ही बताया गया था। इन ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपादन की शैली को यथावत जान कर वेद मन्त्रों का परम सत्य अर्थ बताने का श्रेय इस कारण ऋषि दयानन्द जी को ही है।

एक सत्य तत्त्व है

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
ऋ० १।१६८।४६

'एक ही सद्वस्तु है। ज्ञानी लोग उसी का वर्णन अनेक नामों से करते हैं। उसी को अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम मातरिश्वा कहते हैं।'

इस मन्त्र में सद्वस्तु एक ही है और उसी के गुणबोधक नाम अनेक हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिये नाम अनेक होने पर भी अनेक विभिन्न पदार्थ नहीं है। जो अनेक नाम हैं वे उसी के गुण-बोधक नाम हैं। अर्थात् उसी एक सत्ता के ये अनेक नाम उसी सद्वस्तु के अनेक गुण बता रहे हैं।

यह मन्त्र बड़ा महत्त्व का है। युरोपीयनों के निसर्ग उपासना की कल्पना इससे पूर्णतया खंडित होती है। वैदिक ऋषि अग्नि, जल, वायु आदि निसर्ग के तत्त्वों के उपासक थे। यह जो युरोपीयन पंडित मानते थे, उसका सुयोग्य खंडन इस मन्त्र ने किया है और बताया है कि वास्तव में 'एक सत्, विप्रा

बहुधा वदन्ति' एक सत्तत्त्व है, ज्ञानी लोग उसी एक तत्त्व का अनेक नामों से अनेक प्रकार का वर्णन करते हैं।

वास्तविक परमतत्त्व एक ही है, पर उसके अनन्त गुण हैं इस कारण उसके अनन्त नाम हुए हैं।

ऋषि दयानन्द जी ने इसी मंत्र का आधार लेकर युरोपीयनों की निसर्गोपासना की कल्पना समूल उखाड़ कर फेंक दी है। वास्तविकता यह है कि निसर्गोपासना की कल्पना वेद-मन्त्र ने ही उखाड़ दी थी, उस मन्त्र का आधार लेकर ऋषि दयानन्द जी ने उसी का प्रतिपादन अपनी दिव्य प्रतिभा से किया। देखिये और एक मन्त्र—

तदेवाग्निस्तदादित्यः
तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म
ता आपः स प्रजापतिः।

वा० यजु० ३२।१

'जो सच्चिदादि लक्षण युक्त ब्रह्म है, वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपू और प्रजापति है।'

शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि—

ब्रह्महि अग्निः। श० ब्रा० १।४।२।७७
आत्मा वा अग्निः। श० ब्रा० १।२।३।२

'ब्रह्म अग्नि है, आत्मा अग्नि है।' इस तरह 'अग्नि' पद परब्रह्म परमात्मा का वाचक ब्राह्मण ग्रन्थों ने माना है। तथा—

एतमेके वदन्त्यग्निं
मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽ परे प्राणं
अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।

मनु० ७२।७२२

'इस परमेश्वर को कई अग्नि, दूसरे मनु और प्रजापति कहते हैं, तीसरे इसी को इन्द्र, प्राण और शाश्वत ब्रह्म भी कहते हैं।'

इस रीति से 'अग्नि' पद से परब्रह्म का ग्रहण होता है। यह जो वेद-मन्त्रों ने कहा तथा ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रतिपादन किया वही ऋषि दयानन्द जी ने स्वीकारा और उसी का प्रतिपादन निर्भयता से किया। ऋषि दयानन्द अपने भाष्य में 'अग्नि' पद का अर्थ '**अग्निः परमेश्वरो भौतिको वा** अर्थात् 'अग्नि का नाम परमेश्वर है, और भौतिक अग्नि भीहै।' इसी तरह 'वायु, इन्द्र, सोम' आदि पदों के अर्थ ऋषि दयानन्द जी ने 'परमात्मा जीवात्मा तथा भौतिक भाव दर्शक पदार्थ' किये हैं। वे अत्यन्त योग्य हैं और वैदिक अर्थ करने की पद्धति के अनुसार सुयोग्य हैं। ये अर्थ वेद-मन्त्रों के द्वारा प्रभावित होते हैं। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में इन पदों के अर्थ ऋषि दयानन्द जी ने देखे और अपने भाष्य में उनका याथातथ्य रीति से स्वीकार किया है।

कई समझते हैं कि ऋषि दयानन्द जी ने जनमाने अर्थ किये हैं, यह सत्य कथन नहीं है। ऋषिकृत अर्थ वेदमन्त्रों से, ब्राह्मण ग्रन्थों से, उपनिषदों से किस तरह प्रमाणित होते हैं यह हमने ऊपर बताया ही है। इस कारण ऋषि के किये अर्थ आर्ष दृष्टि से प्रमाणित है अतः वे त्रिकालाबाधित हैं इसमें संदेह नहीं है।

यहां हमने 'अग्नि' पद का अर्थ का विचार किया और सिद्ध किया कि ऋषि के अर्थ आर्ष प्रणाली के अनुसार सत्य हैं। अब 'इन्द्र' आदि पदों के अर्थों के विषय में अधिक प्रतिपादन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तीन स्थानों के अर्थ

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ऐसे वैदिक पदों तीन भाव वेद के अर्थ करने के प्रसंग में देखे जाते हैं। 'भौतिक' पद के दो भाव है—एक मानव समष्टि का और दूसरा निसर्ग सृष्टि का। आधिदैविक का भाव विश्वसृष्टि विषयक है। वैदिक पदों के ये भाव होते ही हैं, इस कारण ऋषि दयानन्द जी ने वैसे भाव अपने भाष्य में लिए हैं।

ये तीन प्रकार के अर्थ वदिक पदों के होते हैं यह ऊपर बताया ही है जैसे—

अग्नि—

व्यक्ति में	समाज में	विश्व में
वाणी	वक्ता	अग्नि
शौर्य	योद्धा	इन्द्र
मन	विचारी मानव	चन्द्रमा

इस तरह इन देवताओं का निवास इन तीन क्षेत्रों में है। सब वैदिक देवता इस तरह तीनों स्थानों में हैं। और इनका कार्य विश्वभर चल रहा है।

अग्निः वग्भूत्वा मुखं प्राविशत्।
सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्।
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।
ऐ० उ०

अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रविष्ट हुआ है। सूर्य आंख बनकर नेत्र के स्थान में रह कर देखने का कार्य कर रहा है। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में मनन का कार्य कर रहा है। इस रीति से सबके सब ३३ देव मानव शरीर में रहे हैं और यहाँ कार्य कर रहे हैं। बाह्य विश्व में जो देवताएं हैं वे सबको प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। उन देवताओं का निवास मानव शरीर में भी है, यह वेद का कहना है, देखिये—

सर्वा ह्यस्मिन् देवता।
गावो गोष्ट इवासते॥
अथर्व ११।८ ३२

'जैसे गोशाला में गौवें रहती हैं, उस तरह इस मानव देह में सब देवताएँ रहती है।' अर्थात् सब देवताएं जैसी विश्व में हैं उसी तरह वे अंशरूप से मानव शरीर में भी रहती हैं।

मानव शरीर में गुणरूप से इनका निवास अनुभव में आता है, मानव समाज में गुणी पुरुष के रूप में वही देवता रहती है। इस तरह प्रत्येक देवता ऋषि ने व्यक्ति में, समाज में और विश्व में देखी और उसका वैसा भाव उसने अपने भाष्य में व्यक्त किया है।

इस स्पष्टीकरण से ऋषि का सब कथन कैसा सत्य है इसका स्पष्ट बोध हो सकता है। इसी अनुभूति से ऋषि ने सब वेद के सिद्धान्त कहे हैं, उनका ज्ञान हम सबको प्राप्त करना चाहिये।

वैदिक यज्ञ, वैदिक उपासना तथा अन्यान्य वैदिक क्रियाएं जो ऋषि ने शुरू कीं वे शुद्ध वैदिक होने से सब मानवों के अभ्युदय के लिए जैसी चाहिए वैसी वे हैं। इस प्रत्येक की वैदिक वचन देकर यहाँ सिद्ध करने की अब कोई आवश्यक नहीं है।

वेद में प्रतिभा पूजा नहीं है

यहाँ अब एक बात अवश्य देखनी चाहिए, वह यह है कि ऋषि दयानन्दजी ने मूर्तिपूजा का खंडन किया है। इस विषय में वेद का कथन स्पष्ट है। वह अब यहाँ देखिये—

न तस्य प्रतिमा स्ति
यस्य नाम महद्यशः। वा० यजु० ३२।३

'जिस परमात्मा का नाम महान यशदायंक है उस परमेश्वर की कोई प्रतिमा नहीं है।' इस तरह स्पष्ट शब्दों से वेद ने ही ईश्वर की प्रतिमा होने का खंडन किया है। अतः हम कह सकते हैं कि ऋषि दयानन्द जी ने जो प्रतिमा पूजा का खंडन किया वह स्वयं वैसा वेद ने किया है अतः इस विषय में यहाँ कुछ भी अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। उनके कहने के अनुसार वैसा मानना ही हम सबों का कर्त्तव्य है।

इस तरह ऋषि दयानन्द जी का सब कथन वेदाज्ञा के अनुसार होने से उसकी सिद्धि करने के लिए कुछ भी अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

श्रेष्ठ धर्मस्थापक

अनेक भव्य तथा समादरणीय धर्मोपदकों में यह दिव्य ऋषि दयानन्द विशेष श्रेष्ठ धर्म संस्थापक है। अपने प्रस्थापनीय वैदिक धर्म का पूर्णतया उत्तम ज्ञान-विज्ञान इनको था। इसलिये अविचल महापर्वत के समान सब प्रकार के शास्त्रार्थों में ये धैर्य से खड़े रहे और विजयी होते रहे। अपने वैदिक धर्म का

जैसा उत्तम स्वरूप तर्क शुद्ध रीति से इन्होंने बताया वैसा आजतक किसी दूसरे बताया। जैसाकि स्वयं परमेश्वर ने ही इस वैदिक धर्म संस्थापन करने के लिए इनको उत्पन्न किया और दिव्य संदेश देकर भेजा ऐसा इनकी ओर देखने से प्रतीत होता था।

ऋषि दयानन्द जी ने जो वैदिक धर्म की स्थापना की वह इतने आतम विश्वास से की जिससे ऐसा मालूम होता था कि ये परमात्मा से वैदिक धर्म का खास संदेश लेकर ही आये थे।

वैदिक धर्म से व्यक्ति ,की परम उच्च उन्नति हो सकती है, राज्य शासन उत्तम निर्दोष रीति से चलाया जा सकता है और इसी से विश्व-शान्ति की स्थापना भी हो सकती है। इस कार्यक्रम में उनका परिपूर्ण विश्वास था। इस-लिए वे निःसंदेह रीति से अपना भाषण, लेखन तथा प्रकाशन कर सकते थे।

ईश्वर यदि कार्यकर्ता को बनाता है तो उसके कारखाने से ऋषि दयानन्द उत्तम कार्यकर्ता बनकर आये थे। यदि वह उत्तम योद्धा बनाता है तो ये वहीं से उत्तम योद्धा बनकर आये थे। तात्पर्य कि इनके समान दूसरा कोई वैदिक-धर्म का द्दष्टा बना नहीं था। इसलिए हम इनको वैदिक धर्म का उत्तम संस्थापक कह सकते हैं।

इन्होंने प्राचीन आर्य वैदिक संस्कृति का उत्तम रीति से प्रचार किया। वेद का दिव्य ज्ञान, वैदिक दिव्य भक्ति, और वैदिक दिव्य कर्म मार्ग का उत्तम प्रचार किया।

ऋषि दयानन्द जी की दृष्टि उत्तम राष्ट्रीय थी। अतः उन्होंने वेद के राष्ट्रीय उपदेशों को अच्छी तरह समझ कर, उन वैदिक राष्ट्रीय तत्वज्ञान का उन्होंने व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व में अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धी होने के लिए उत्तम रीति से प्रसार किया।

सत्य दृष्टि, सत्य विचार और सत्य आचार यह वैदिक धर्म का मुख्य पावन सूत्र है। इसको ऋषि दयानन्द ने उत्तम रीति से जाना और अनुभव लेकर उसका प्रचार उन्होंने उत्तम निर्भयता से किया। यह उनके जीवन का मुख्य रहस्य है, अतः यह विश्व में यशस्वी होता ही रहेगा।

वेदों का पंथ !

•

वेदों का है पंथ निराला !
इस पथ पर जो भी चलता है,
वह नये रूप में ढलता है,
जग हित कारी,
सत्य विहारी,
वेदों का है पंथ निराला !
कर देता है दूर अंधेरा,
ला देता है नया सबेरा,
सुखी बनाता,
मंगल ग।ता,
वेदों का है पंथ निराला !
है सबका यह जीवन दाता,
घर - घर को है स्वर्ग बनाता
शत्रु दनुज का,
मीत मनुज का,
वेदों का है पंथ निराला !
ज्ञान सुध बरसाने वाला,
जीवन को सरसाने वाला,
सबका प्यारा,
सबसे से न्यारा
वेदों का है पंथ निराला !

सरोज 'दीक्षित'

•

महर्षि व्यास द्वारा वेदान्त दर्शन में—

वैदिक त्रैतवाद का समर्थन

दर्शनाचार्य पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री

(आचार्य उपदेशक विद्यालय तपोवन देहरादून)

मायावादी आचार्यों ने अपने विचारों की पुष्टि के लिए महर्षि व्यास के वेदान्त दर्शन में जीव ब्रह्मैक्यवाद और जगन्मिथ्यात्ववाद को प्रसारित करने का जो प्रयत्न किया है वह जहाँ वेद की भावनाओं के विरुद्ध है वहाँ व्यास के 'वेदान्त' की भावनाओं के भी सर्वथा विपरीत है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने युक्ति, तर्क और प्रमाण पूर्वक यह सिद्ध और स्पष्ट कर दिया है कि 'वेदान्त दर्शन" में वैदिक त्रैतवाद की ही पुष्टि की गयी है—शंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्वाचार्यादि ने जो भ्रांति विद्वानों के मस्तिष्क में भरी, लेख उसे निकाल सकने में समर्थ हो सकेगा। ऐसा हमारा विश्वास है।

"वेदान्त" शब्द का अर्थ "वेद का सिद्धांत" है। व्यास जी ने चारों वेदों का गम्भीर मनन और अध्ययन करके जिन आध्यात्मिक तत्वों का स्पष्टीकरण किया है—वे वेदान्त के नाम से कहे जाते हैं और इसी कारण उनके दर्शन का

नाम 'वेदांत दर्शन' है। दुःख का विषय है कि व्यास जी के दार्शनिक विचारों को कई साम्प्रदायिक लोगों ने तोड़-मरोड़ कर कुछ का कुछ बनाने का प्रयत्न किया। मायावादी अद्वैतियों ने कहा कि व्यास जी के सूत्रों को श्री शंकराचार्य जी ही ठीक-ठीक समझ पाये हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों ने कहा कि शंकराचार्य जी ठीक-ठीक नहीं समझे किन्तु श्री रामानुजाचार्य ही ठीक समझे हैं। इसी प्रकार द्वैतवादियों ने श्रीमध्वाचार्य, द्वैताद्वैतवादियों ने श्री निम्बार्काचार्य और शुद्धाद्वैतवादियों ने श्री वल्लभाचार्य को वेदान्त सिद्धान्त का यथार्थ जानने वाला बताया है। वेद का प्रामाण्य मानने वाले विद्वानों का कर्त्तव्य हो जाता है कि व्यास जैसे महर्षि के वेदान्त सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझने के लिए प्रयत्न करके पता लगावें कि व्यास के सिद्धान्त वेदानुमोदित हैं कि नहीं। यदि हैं तो किस आचार्य के मन्तव्य का प्रदिपादन करते हैं।

ऋषि दयानन्द के तर्कों को सामने रखते हुए हमारी निश्चित धारणा है कि साम्प्रदायिक आचार्यों के मन्तव्य जहां वेद के विरुद्ध हैं वहाँ व्यास के वेदांत के भी विरुद्ध हैं।

वेदान्त सूत्रों में जीव ब्रह्मैक्यवाद और जगन्मिथ्यात्ववाद का लेश भी नहीं है। इन सिद्धांतों का व्यास जी कभी भी प्रतिपादन नहीं कर सकते क्योंकि वेदों में इन विचारों का वर्णन नहीं पाया जाता, प्रत्युत जीव ब्रह्म भेद और जगत् की सत्यता का प्रतिपादन पाया जाता है। **यथा जीव और ब्रह्म भिन्न भिन्न हैं—**

(१) ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्.॥

जो कुछ भी इस जगती में प्रतीयमान पदार्थ है—उस सबमें परमेश्वर व्यापक है। यदि जगत् की सत्ता को स्वीकार न किया जावे वा मिथ्या कहा जावे तो परमेश्वर की व्यापकता किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकेगी। क्योंकि व्याप्य की अपेक्षा से ही व्यापक कहा जा सकता है—व्याप्य नहीं तो व्यापक भी नहीं।

(२) हे जीव, तू उसी की व्यवस्थानुसार जीवन व्यतीत कर और किसी के धन की लालसा मत कर।

बताया गया है कि परमेश्वर से भिन्न जीव भी वर्तमान है। उसी को उपदेश दिया जा रहा है कि उस परमेश्वर की व्यवस्थानुसार जीवन व्यतीत कर। यदि जीव नामक कोई तत्व परमेश्वर से भिन्न न होता तो यह उपदेश सर्वथा असमंजस हो जाता।

जीव एक ही नहीं है किन्तु अनेक हैं। क्योंकि कहा गया है कि किसी के धन की लालसा मत कर—एक वह है जिसके धन की लालसा की जाती है और दूसरा वह है जो उसके धन की लालसा करता है।

इस मंत्र से जहाँ ईश्वर और जीव में वास्तविक भेद का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ जीवों की अनेकता अर्थात् जीवों का परस्पर भेद भी वर्णन किया गया है। यही विचार अन्यत्र भी वर्णन किये गये हैं यथा—

(३) **ये समाना समनसो जीवा: जीवेषु मामका**—जीवों की अनेकता जीवा:, जीवेषु, समाना:, समनस: इन चार विशेषणों से भी वर्णन की गई है। कहा यह गया है कि एक जीव दूसरे जीव से स्वरूप से भिन्न है परन्तु सभी जीव चेतन हैं और एक जैसे अणुपरिमाण वाले हैं। प्रत्येक के साथ मन भी पृथक् पृथक् हैं।

(४) **अस्माकमस्तु केवल:**—हमारा तो वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। इस मन्त्र में 'अस्माकम्' बहुवचन है जिससे जीवों का नानात्व स्पष्ट सिद्ध है। 'केवल: अस्तु'—ये दोनों पद एक वचनान्त हैं जिससे ईश्वर की एकता वर्णन की गई है।

(५) **अग्ने: वयममृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम**—हम सब उस परमेश्वर के सुन्दर नाम का मनन करते हैं जो अनेकों जीवों को मुक्ति प्रदान करता है, इस मन्त्र में 'वयम्' और 'अमृतानाम' इन दो पदों से जीवों की अनन्तता और 'अग्ने:' इस पद से परमेश्वर की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

(६) **भर्गो देवस्य धीमहि**—हम सब उस महान् परमेश्वर के दिव्य तेज का ध्यान करते हैं।

ध्यान करने वाले हम अनेक हैं और ध्यान के योग्य परमेश्वर एक है। ध्याताध्येय के इसी सम्बन्ध को मुख्य रखते हुए आगे पुन: कहा गया है कि—

(७) **धियो यो नः प्रचोदयात्**—जो परमेश्वर हम सबकी बुद्धियों को प्रकृष्ट शुभ कर्मों की प्रेरणा करता है।

यहां भी 'नः- हम सब की अर्थात् उपासकों की अनेकता और ध्येय परमेश्वर की एकता 'यः' पद से स्पष्ट वर्णन किया गया है।

महर्षि व्यास ने इसी जीव ब्रह्म भेद को स्पष्टतः वर्णन करते हुए कहा है कि—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति—इस ब्रह्म में ही जीव के योग को वेद में प्रतिपादन किया गया है।

अनुपपत्तेस्तु न शरीरः—जीवात्मा, किसी भी प्रकार से ब्रह्म नहीं हो सकता। लक्षणों के भेद से लक्ष्यों में भेद होता है—ब्रह्म के लक्षण और हैं और जीव के लक्षण और हैं।

ब्रह्म के लक्षण—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतेबाहु रुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।

(१) परमेश्वर सर्वज्ञ है, वेद का प्रकाशक है, सर्वान्तर्यामी है और सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान है। परमेश्वर एक है, अद्वितीय है। परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त सामार्थ्य से संसार का प्रबन्ध करने वाला है। परमेश्वर ही सूक्ष्म परमाणुओं से द्युलोक के तारागणों को और पृथिवी लोक को उत्पन्न करने वाला है।

ये आठ लक्षण इस मन्त्र में परमेश्वर के विशेष लक्षण कहे गये हैं। वेदों में स्थान-स्थान पर इनकी चर्चा देखने-सुनने को मिलती है।

व्यास जी ने इन लक्षणों को महत्वपूर्ण जान कर जीव ब्रह्म में भेदक रेखा खींचने वाला माना है। उनके सूत्र ये हैं—

जन्माद्यस्य यतः—जो इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का मुख्य कारण है, वह ब्रह्म है।

शास्त्रयोनित्वात्—वेद-शास्त्र का आदि प्रकाशक होने से ब्रह्म ही जानने के योग्य है।

द्यु भ्वाद्यतनं स्वशब्दात्—जो द्यु लोक और पृथिवी आदि लोकों का आधार है, वह ब्रह्म है ।

अन्तर्याम्याधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्—अन्तर्यामि आदि प्रकरणों में ब्रह्म का ही निरूपण किया गया है, जीवात्मा का नहीं । क्योंकि जीवों में अन्तर्यामी होने की योग्यता ही नहीं है । इसके अतिरिक्त ब्रह्म तो जीवात्मा का भी अंतर्यामी कहा गया है ।

(२) ब्रह्म आनन्द स्वरूप है—

वेद में कहा गया है कि—**यत्रानन्दा मोदाश्च मुह प्रमुद आसते यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि** । आपके जिस स्वरूप में आनन्द ही आनन्द है और जहाँ सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। हे परमेश्वर ! उस मुक्ति के आनन्द को मुझे भी प्राप्त कराइये ।

यत्र देवा अमृतमानशाना—जिस मुक्तिधाम में अमर आत्मायें ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करते हैं।'

स्वः यस्य च केवलम् तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः—जिस परमेश्वर का ही आनंदमय स्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है ।

न त्वहते अमृताः मादयन्ते—हे परमेश्वर, आपकी कृपा के बिना जीवात्मा मोक्ष के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते ।

व्यास जी ने इस आनन्दमय प्रतिपादक मन्त्र समूह पर मनन करके जीव ब्रह्म के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—**आनन्दमयो द्यु भ्यासात्** अर्थात् ब्रह्म ही आनन्दमय है, जीवात्मा आनन्दमय नहीं है । क्योंकि जहाँ कहीं आनन्द-स्वरूप कहा गया है वहाँ ब्रह्म का ही वर्णन है, जीवात्मा का नहीं । **कामाच्च नानुमानापेक्षा**—जीवात्मा में आनन्द की कामना पाई जाने से वह आनन्दस्वरूप नहीं है । जिसमें जो गुण नहीं होता वही उस गुण की कामना करता है । निर्धन ही धन की और रोगी ही स्वास्थ्य की तथा दुःखी ही सुख की इच्छा करता है । व्यास जी कहते हैं कि यदि जीवात्मा स्वरूप से ही आनन्दमय होता तो उसे आनंद की कामना न होती, परन्तु होती है । अतः जीव आनंदमय नहीं ।

कर्मकर्तव्ययदेशाश्च— यदि परमेश्वर आनन्दमय न होता तो जीवात्मा उसकी कामना न करता। जीवात्मा कर्ता अर्थात् आनन्द का प्राप्त करने वाला है और ब्रह्म कर्म है अर्थात् प्राप्तव्य है। अतः कर्म और कर्त्ता का व्ययदेश पाये जाने के कारण ब्रह्म और जीव में महान् अन्तर है।

(३) ब्रह्म ज्ञेय और व्यापक है—

अर्भकौकस्त्वात् तद्वयपदेशाश्च ने ति चेन्न निचायत्वा देवं व्योमवच्च।१।२।७

हृदय जैसे छोटे से स्थान में कहने से जीव ही ब्रह्म है—यदि ऐसा कहा जावे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'निचाय्यत्व'अर्थात् जानने के योग्य ब्रह्म के प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि **वेदाहमेतं पुरुष महात्तम्** अर्थात् मैं इस महान् सर्वव्यापक ब्रह्म को जानता हूं। इस मन्त्र में ज्ञाता जीव है और ज्ञेय ब्रह्म है। ज्ञाता परिच्छिन्न है और ज्ञेय व्यापक है। ज्ञाता अनेक प्रकार के दोषों से दूषित है और ज्ञेय ब्रह्म आदित्य के समान प्रकाशमान और तमसः परस्तात् है। मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि तमे व विदित्वा मृत्यु अत्येति-उस ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु को उलाँघ सकता है। **अन्यः पन्था अयनाम न विद्यते**— इससे अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है। मन्त्र में जीव, ब्रह्म के भेद का स्पष्ट वर्णन करके अन्त में यहाँ तक. कह दिया है कि जब तक दोनों तत्त्वों को पृथक्-पृथक् न माना जावे तब तक मोक्ष भी नहीं हो सकता। एक बात और भी है—व्योमवच्च अर्थात् वेद में ब्रह्म को स्थान-स्थान पर आकाशवत व्यापक कहा है यथात्वमस्य पारे रजसो व्योमतः, परीत्यभूतानि परीत्यलोकान् ओं रवं ब्रह्म परिभूःस्वयम्भूः।

(४) ब्रह्म अकायम–शरीर के बन्धन से रहित है—

स पर्यगात् शुक्रमकायम्—वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर शरीर के बन्धन से रहित है, अतएव सर्वव्यापक है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्—इस परमेश्वर को न तो कोई ऊपर से पकड़ सकता है, न नीचे से और न ही बीच से पकड़ सकता है।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः—उस महान् यशस्वी परमेश्वर की कोई प्रतिमा नहीं है।

व्यास जी ने मन्त्रों पर विचार करके निश्चय किया कि—

करण वच्चेन्न भोगादिभ्यः—यदि ब्रह्म को भी शरीरधारी माना जावे तो जीव के समान वह भी भोगी, पराधीन और परिच्छिन्न मानना पड़ेगा—परन्तु वेद उसको अकायम कहता है। अतः ब्रह्म को जीवके समान नहीं मानना चाहिये।

इस सूत्र पर स्वामी शंकराचार्य जी ने भाष्य करते हुए लिखा है कि—अथ लोक दर्शनानुसारेण ईश्वरस्यापि किंचित् भोगायतनं शरीरं कामं कल्प्येत एवमपि नोपपद्यते—शरीरित्वे हि सति संसारिवत् ईश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्न तत ईश्वरस्यापि अनीश्वरत्वं प्रसज्येत। यदि लोकदर्शनानुसार ईश्वर का भी कोई भोगायन शरीर मान लिया जावे तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर को शरीरधारी मानने पर जैसे अन्य शरीरधारी भोगादि के लिये पराधीन हैं वैसे ही ईश्वर को भी किसी अन्य ईश्वर के अधीन मानना पड़ेगा—तब तो ईश्वर भी ईश्वर न रहकर अनीश्वर सिद्ध होगा।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा—शरीरधारी मानने पर ईश्वर पर दो भयंकर दोष और भी लगेंगे—जीव के समान सीमित परिच्छिन्न और अल्पज्ञ भी मानना होगा। उसको शरीरधारी मानने से जन्म लेने वाला भी मानुना होगा परन्तु—

उत्पत्यसम्भवात्—उसकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। वेदों ने स्पष्ट कहा है कि 'अज एकयात्' अर्थात् परमेश्वर अजन्मा है 'अजायमानः' है तथा अपरिवर्तनशील, एकरस, अविनाशी है।

(५) मुक्ति में भी जीव ब्रह्म में भेद रहता है—

जगद्व्यापार वर्जं प्रकरणादसं निहितत्वाच्च—जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और संहार के व्यापार को छोड़कर मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्म के आनन्द को ही प्राप्त कर सकता है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं कि—जगदुत्पत्यादि व्यापारं वर्जयित्वा अन्यत् अणिमाद्यैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति-जगद्व्यापारस्तु नित्य सिद्धस्य ईश्वरस्यैव अर्थात् जगत् की उत्पत्ति आदि के व्यापार को छोड़कर अन्य अणिमादि ऐश्वर्य तो मुक्त जीवों को प्राप्त हो सकता है परन्तु जगत् की प्रबन्ध व्यवस्था तो नित्य सिद्ध परमेश्वर से ही सम्बन्ध रखती है।

(६) जीव के विशेष लक्षण—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वस्व जाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्ति अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति ।

जीव और ईश्वर दो चेतन एक ही शरीर में घुल-मिलकर रहते हैं। उन दोनों में से एक अर्थात् जीवात्मा तो शरीर के भोगों को स्वादु लेकर भोगता है परन्तु दूसरा चेतन परमात्मा साक्षी होकर जीवात्मा के कर्मों का निरीक्षण करता है।

समाने वृक्षे पुहष्पो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशंमस्य महिमान मिति वीत शोकः ।।

शरीर रूपी वृक्ष के फलों का स्वादु लेते-लेते यह जीवात्मा मोहवशात् शोकाकुल हो जाता है, परन्तु जब यह अपने पास ही विद्यमान आनन्द स्वरूप परमेश्वर की महिमा को देखता है तो इसके शोक, मोह दूर हो जाते हैं।

तस्य भ्राता मध्यमो अस्ति अश्नः—उस परमेश्वर से कर्म-फल प्राप्त करने वाला एक और चेतन जीवात्मा भी है जो अनेक प्रकार के भोगों का भोगने वाला है।

इत्यादि मन्त्रों पर विचार करके व्यास जी ने निश्चय किया कि—**उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्**, जीवात्मा अणु परिमाण वाला है क्योंकि उसकी उत्क्रांति गति और आगति पाई जाती है। जीवात्मा शरीर को छोड़ता है जिससे शरीर मृतक और निश्चेष्ट हो जाता है। गति-जीवात्मा मृत्यु के अनन्तर किसी अन्य शरीर को धारण करके सद्गति या असद्गति को प्राप्त करता है, आगति-जीवात्मा की अनेक प्रकार की क्रियायें भी शरीर में प्रकाशित होती हैं। ये गमनागमन तभी सम्भव हो सकते हैं जब जीव स्वरूप से अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म और परिछिन्न एक देशी तत्व स्वीकार किया जावे क्योंकि व्यापक तत्व में गत्यादि सर्वथा असम्भव है।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्न इतराधिकारात्—यदि यह कहा जावे कि **एक महानजन्मात्मा योऽयं विज्ञानमयः**—इस श्रुति में आत्मा को अणु न कहकर महान कहा है। इसलिये जीवात्मा अणु परिमाण वाला नहीं है तो ऐसा कहना

ठीक नहीं है क्योंकि वहां तो जीवात्मा से भिन्न परमात्मा का प्रकरण है। निस्सन्देह परब्रह्म परमात्मा महान् और सर्वव्यापक है ही।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च—स्वशब्द अर्थात् आत्मा के अपने नाम और उन्मान अर्थात् आत्मा के अपने अणु परिमाण का स्पष्ट उल्लेख पाये जाने से सिद्ध है कि जीवात्मा स्वरूपतः परमात्मा से भिन्न प्रकार का है। यथा—बालादेक-मणीयस्कम्, एष्पोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः, आराग्रमात्रोह्यपरोऽपिदृष्टः, बालाग्रशतभागस्य।

ब्रह्म और प्रकृति में भेद—

आनुमानिकमप्येकेष्यामिति चेन्न शरीररूपक विन्यस्तगृह्मीतेः दर्शयति च—कई एक लोगों का कहना है कि ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। वे कहते हैं कि उपनिषद् में ऐसा ही कहा गया है **यथा-यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च—तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्**, उन लोगों का ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ पर ऊर्णनाभि मकड़ी के दृष्टान्त से समझाया गया है कि जैसे मकड़ी से तन्तु निकलते हैं और पुरुष से केश रोमादि निकलते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से सकल जगत् उत्पन्न होता है। इस दृष्टान्त पर विचार किया जावे तो प्रतीत होगा कि मकड़ी का शरीर और है और मकड़ी का आत्मा और है तभी तो मृतक मकड़ी से तन्तु नहीं निकलते और मृतक मनुष्य से केशरोमादि नहीं निकलते अर्थात् आत्मा के द्वारा शरीर से निकलते हैं—आत्माकर्ता निमित्त कारण है और शरीर उपादान कारण है। ऐसे ही अक्षर ब्रह्म निमित्त कारण है और शरीर स्थानीय अव्यक्त प्रकृति इस जगत् का उपादान कारण है। **दर्शयति च**—यह बात अन्यत्र स्पष्ट रूप में वर्णन भी की गई है। देखिये लिखा है—**अक्षरात् परतः परः** अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त जीवात्मा और जीवात्मा से अतिरिक्त अव्यक्त प्रकृति भी है।

तदधीन त्वादर्थवत्—परब्रह्म परमेश्वर के अधीन होने से ही प्रकृति कार्यकारिणी होने में सफल हो सकती है, जैसे मृत्तिकादि उपादान कारणों की कुम्भार आदि निमित्त कारणों के द्वारा सार्थकता होती है और घटादि कार्यों का

प्रादुर्भाव होता है वैसे ही परमेश्वर के द्वारा प्रकृति से सम्पूर्ण जगत् का आदुर्भाव होता है।

प्रकश्चि प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुयरोधात्—ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति नामक एक और तत्त्व भी क्योंकि ऐसा न मानने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त की व्यवस्था ठीक नहीं रहती। **प्रतिज्ञा-य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः**—अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर सोये हुओं में जागता है और सब प्रकार की व्यवस्था करता है जीवेषु अर्थात् जब जीव सो जाते हैं उस समय परमेश्वर ही उनके शरीरों की देखरेख करता है। इस वचन से जीव ब्रह्म भेद तथा जीव की अनंतता पर प्रकाश पड़ता है। यही दशा प्राकृतिक जड़ जगत् की भी है उसकी ठीक-ठीक व्यवस्था भी सर्वज्ञ परमेश्वर ही करता है, यदि ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और प्रकृति न हों तो सोते हुए जीवों और सूर्य पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों की व्यवस्था करने की प्रतिज्ञा का क्या बनेगा, दृष्टान्त—

अग्निर्यथैको, वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः, यथासोम्य एकेन मृत्पिण्डेन—इत्यादि दृष्टान्त भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति का पृथक अस्तित्व स्वीकार किया जावे।

साक्षाच्चोभयाम्नानात्—प्रकृति और ब्रह्म का साक्षात् पृथक्-पृथक् वर्णन भी अनेक स्थानों में पाया जाता है यथा-तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः अर्थात् उस प्रकृति रूप उपादान और इस पर ब्रह्म परमात्मा निमित कारण से आकाशादि पदार्थों का प्रादुर्भाव हुआ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्— जगत् का उपादान कारण प्रकृति और उसका अध्यक्ष अधिपति परमेश्वर है।

जगत् मिथ्या नहीं —

वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

प्रघान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्-२।१५।१ इस सत्यस्वरूप महान् परमेश्वर के कला-कौशल और जगत् रूप उपकरण भी निश्चय से महत्वशाली और सत्य हैं।

यच्चिकेत सत्यमित् तन्नमोघम् १०।५५।६ उस परमेश्वर का विज्ञानमय

संसार सर्वथा सत्य अर्थात् वास्तविक सत्ता वाला है। निश्चय से जगत् मोह-मिथ्या नहीं है।

भला यह कैसे हो सकता है कि परमेश्वर सत्य हो और उसकी कला कृति असत्य हो। इसीलिये श्रीकृष्ण जी ने गीता में स्पष्ट कहा है कि— **असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्चरस** अर्थात् असुर राक्षस लोग ही यह कहते हैं कि जगत् असत्य है अथवा इसका कोई निर्माता, नियन्ता परमेश्वर नहीं है। इस प्रकार के प्रमाणों पर विचार करने के अनन्तर व्यास जी ने लिखा है कि— **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्** जगत् स्वप्नादि के समान मिथ्या नहीं है क्योंकि जगत् और स्वप्नादि में साधर्म्य नहीं पाया जाता किन्तु वैधर्म्य पाया जाता है। वैधर्म यह है कि जगत् उपलब्धि रूप है और स्वप्नादि स्मृति रूप हैं। उपलब्ध पदार्थ की सत्ता वास्तविक होती है, स्मृत पदार्थ की मिथ्या प्रतीति होती है अर्थात् जगत् होता हुआ उपलब्ध होता है और स्वप्नादि न होते हुए प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार मननपूर्वक विचार करने से सिद्ध होता है कि व्यास जी के वेदान्त में न तो जीव ब्रह्म की एकता का ही वर्णन है और न ही जगत् के मिथ्यात्व का अपितु वैदिक त्रैतवाद का ही समर्थन किया गया है।

●

संसार का विरोध कैसे दूर हो ?

"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" अर्थात् जो-जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें वर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकाविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है।" —दयानन्द सरस्वती

दर्शनों में भेद नहीं !

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

महर्षि ही सर्वप्रथम ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने यह स्थापना की कि दर्शनों में परस्पर कोई भेद नहीं है। और उन सभी का प्रतिपाद्य विषय एक ही है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने गम्भीरता पूर्वक ऋषि की इस मान्यता को सभी को हृदयंगम कराने का सफल प्रयास किया है। लेख को पढ़ने के बाद पाठक जहाँ सभी दर्शनों के भाव समझ सकेंगे वहाँ उन्हें यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि उनका क्या है ? विषय का स्पष्ट, सरल और लक्ष्य विद्वता पूर्ण विवेचन लेख की अपनी विशेषता है।

महादार्शनिक महर्षि दयानन्द की यह स्थापना है कि प्रक्रिया का भेद होते हुये भी छः दर्शनों में परस्पर कोई भेद नहीं है। इनमें पूर्णतः समन्वय पाया जाता है। महर्षि की इस स्थापना का प्रचार तो आर्यसमाज करता रहा है, परन्तु इस दिशा में कार्य कुछ भी हुआ नहीं। विपक्षियों ने जितना अधिक कार्य गत कई वर्षों में पूर्वपक्षीय सामग्री के प्रस्तुत करने में किया है उसका न्यूनतम भाग भी अपनी तरफ से उत्तर देने में नहीं किया गया है। दो-एक छोटी पुस्तकें षड् दर्शनों के समन्वय विषय को लेकर लिखी गयीं परन्तु उनकी समन्वय की

प्रक्रिया का प्रकार ऋषि प्रदर्शित प्रकार से कुछ थोड़ा सा भिन्न रहा—जब कि उनकी उपादेयता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। दार्शनों के समन्वय का सफल प्रकार यदि कोई हो सकता है तो ऋषि-प्रदर्शित प्रकार ही हो सकता है, अतः इस विषय में आगे चलने से पूर्व ऋषि के प्रकार को यहाँ पर दिखलाना सर्वथा ही उचित है—क्योंकि वही इस मार्ग पर अग्रेसर होने का परम और मौलिक आधार है। महर्षि ने पूर्वपक्ष उठाकर समाधान करते हुये दो स्थलों पर सत्यार्थप्रकाश में इस पर प्रकाश डाला है। प्रथम स्थल सत्यार्थप्रकाश का तृतीय समुल्लास है और द्वितीय स्थल इसी ग्रन्थ का अष्टम समुल्लास है। प्रथम स्थल पर ऋषि का वर्णन शिक्षा विषय की भूमिका को लेकर है और दूसरे स्थल का वर्णन सृष्टि रचना प्रकरण की प्रस्तावना पर आधारित है। परन्तु समन्वय का जो सूत्र ऋषि ने दिया है वह दोनों स्थलों पर सृष्टि प्रकरण के तर्क को लेकर ही है। महर्षि के वाक्य क्रमशः निम्न प्रकार हैं :—

(१) **प्रश्न—जैसे सत्यासत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टि विषय में छः शास्त्रों का विरोध है–मीमांसा कर्म, वैशेषिक काल, न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ' सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है—क्या यह विरोध नहीं ?**

उत्तर—प्रथम तो बिना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी और इनमें विरोध नहीं, क्योंकि तुमको विरोधाविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है—क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में ?

प्रश्न—एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उसको विरोध कहते हैं—यहां भी सृष्टि एक ही विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो, एक है ? जो एक है तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों है, जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिवादन होता है वैसे ही सृष्टि विद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं है—जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार, संयोग, वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुंम्हार कारण है वैसे ही सृष्टि का

जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, और तत्वों के अनुक्रम से, परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्यख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यक शास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधि दान और पथ्य प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्र ने की है, इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि प्रकरण में करेंगे। सत्यार्थप्रकाश तीन समुल्लास।

३—प्रश्न—जो अविरोध है तो.. ....मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें?

उत्तर—इसमें सब सच्चे हैं, कोई झूठा नहीं।.. ....परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवे। छः शास्त्रों का अविरोध देखो जो इस प्रकार है—मीमाँसा में ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म-चेष्टा न की जाय," 'वैशेषिक में समय न लगे विना बने ही नहीं," न्याय में उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता, योग में विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता।,' सांख्य में तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता" और वेदान्त में बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके।" इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। इन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास।

यहाँ पर महर्षि के दोनों स्थलों का विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है :—

१. एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होने का नाम विरोध है। परन्तु दर्शनों में प्रक्रिया की भिन्नता होने पर भी ऐसा विरोध नहीं।

२. सृष्टि रचना का प्रसिद्ध वर्णन केवल सांख्य और वेदान्त में है, शेष

चार में प्रसिद्ध वर्णन न होकर प्रासंगिक वर्णन है समन्वय करते समय सृष्टि के विषय को लेकर ही समन्वय करना चाहिये क्योंकि पूर्वपक्ष इसका स्पर्श करते हुए ही उठाया जाता है।

३. दर्शन के मुख्य विषय का तो इनमें विरोध है ही नहीं, सृष्टि की की रचना के विषय में जो विरोध लोगों को दिखलायी पड़ता है वह भी नहीं है।

४. छः दर्शन सृष्टि के छः कारणों की व्याख्या करते हैं और वे हैं—कर्म, काल, उपादान, पुरुषार्थ, तत्वों, का परस्पर मेल (संयोग) और ब्रह्म अर्थात् निमित्तकारणभूत कर्त्ता।

यहाँ पर इन्हीं आधारों को दृष्टिपथ में रखते हुये छः दर्शनों में परस्पर विरोध है वा नहीं—इसका विचार किया जाता है। छः दर्शनों में एक विषय पर होने वाला परस्पर विरोध नहीं पाया जाता है। जहाँ कहीं पर ऐसा आभास मिलता है जिस पर पूर्व-पक्षी अपना विचार स्थापित करते हैं उनका विचार यहाँ पर करना अपेक्षित है। वैशेषिक में द्रव्य गुण का पृथक् वर्णन है। द्रव्य वह है जो क्रियावाला, गुणवाला अथवा समवाभिकारण हो। गुण द्रव्य के आश्रय से रहता है, परन्तु गुण में गुण नहीं रहता। द्रव्य-द्रव्य का आरम्भक है और गुण गुण का। केवल द्रव्य से गुण की उत्पत्ति नहीं और केवल गुण से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती।

परन्तु सांख्य में सत्व, रजस् और तमस् को गुण कहा जाता है और इन तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति जब तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है तो फिर गुणरूप होने से उससे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु सांख्य में प्रकृति से उत्पन्न होने वाले पदार्थ द्रव्य भी हैं। यह एक विषय में होने वाला विरोध नहीं तो फिर क्या है?

इसका समाधान यह है कि सांख्य में सत्व, रजस् और तमस् जिन तीन गुणों का वर्णन है वे केवल वैशेषिक के लक्षण वाले गुण और द्रव्य दोनों हैं, अतः प्रकृति सत्वरजस्तमोगुणमयी द्रव्यभूत वस्तु है। उसके द्रव्य तत्व से द्रव्य और गुण से गुण का आरंभ होता है। गुण नाम रस्सी का है। पुरुष के बन्धन का हेतु बनने से इनमें गुण पद का व्यवहार होता है। वस्तुतः ये गुण और द्रव्य दोनों हैं। इस प्रकार वैशेषिक और सांख्य का भेद नहीं। सांख्य में इन सत्व

रजस्, तमस् भी लघुत्वादि धर्म माने गये हैं[1] जो यह सिद्ध करते हैं कि ये गुणयुक्त द्रव्य हैं।

न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और योग-शास्त्र में परमेश्वर को जगत् का कर्ता एवं निमित्तकारण माना गया है परन्तु सांख्य में उसके अस्तित्व में ही प्रमाण का अभाव माना गया है तथा उसका कारणत्व अस्वीकृत किया गया[2] है। इसका समाधान यह है कि सांख्य सूत्रों में कहीं पर भी ईश्वर के होने का निषेध नहीं है। उसे केवल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष का धिषय नहीं माना गया है। सांख्य में ईश्वर को सर्ववित् और सर्वकर्त्ता[3] स्वीकार किया गया है। प्रकृति को उसके अधीन परतन्त्र माना गया है और समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में ब्रह्म-रूपता[4] को भी मन्तव्य रूप में दिखलाया गया है। सांख्य दर्शन के पाँचवें अध्याय में जहाँ पर ईश्वर के कारणत्व का खण्डन है वहाँ पर केवल उसके उपादान कारणत्व का निषेध किया गया है, निमित्त कारणत्व का नहीं। कोई भी शास्त्र परमेश्वर को उपादान कारण मानता ही नहीं। फिर विरोध का प्रश्न ही क्या शेष रह सकता है।

सांख्यदर्शन में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं। जिनसे यह आभास मिलता है कि न्याय और वैशैषिक का उसमें खण्डन किया गया है। उदाहरण के रूप में सांख्यदर्शन के पाँचवें अध्याय के ८५ वें सूत्र से ९० सूत्रों तक को तथा ९९ सूत्र को लिया जा सकता है। इनमें क्रमशः पदार्थषड्कत्व, पदार्थषोडशकत्व, अणुनित्यता, परिमाण के चातुर्विध्य और समवाय आदि का खण्डन प्रतीत होता है। परन्तु विचार करने पर यह खण्डन नहीं खण्डनाभास मालूम पड़ता

१—लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ।।सां–१।१२८

२—प्रधानशक्तियोगाच्चेत्न सगापत्तिः, सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्यम्, प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः सम्बन्धाभावान्नानुमानम्- श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य। सां ५।८- २॥

३—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा, एहि सर्ववित्सर्वकर्त्ता, आकार्यत्वेपि तद्योगः पारवश्यात्। सांख्य ३।५७, ५६, ५५

४—समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। सां० ५।११६

है। सांख्य में षट् पदार्थ और षोडशपदार्थ की प्रक्रिया एवं सिद्धान्त का खण्डन नहीं है वल्कि षट्पदार्थ और षोडशपदार्थ के ही ज्ञान से मुक्ति हो सकती है—ऐसा ही नियम है, इस विचार का खण्डन है। वैशेषिक और न्याय में ऐसा एकमात्र नियम निर्धारित नहीं किया गया है कि मुक्ति षट् और षोडश पदार्थ के ज्ञान से भी हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती। षट् और सोडश पदार्थों के ज्ञान से भी मोक्ष हो सकता है और अन्य दर्शनों में बताये प्रकार से भी। न्याय में तो स्वयं ही पदार्थों के संख्यैकान्तवाद का खण्डन[1] है। अणु की नित्यता के खण्डन से परमाणुओं के नित्यत्व का प्रत्याख्यान भी सांख्यकर्त्ता को अभिप्रेत नहीं। सांख्यकार ने प्रधान की वृत्ति को भी अणुव्रत माना है। यदि वह अणुवों का खण्डन करता तो फिर दूसरे स्थान पर उन्हें स्वीकार क्यों करता[2]। सांख्यकार ने वस्तुतः परमाणुओं का खण्डन नहीं किया है। उन्होंने परमाणुओं की कूटस्थनित्यता का खण्डन किया है। महर्षि व्यास के शब्दों में नित्यता दो प्रकार की होती है—परिणामिनित्यता और कूटस्थ नित्यता[3]। जो वस्तु उपादान कारण होगी (चाहे वह प्रकृति हो अथवा परमाणु हो) उसकी नित्यता परिणामी नित्यता होगी, कूटस्थनित्यता नहीं। कूटस्थनित्यता केवल आत्मा और परमात्मा की है। इसी प्रकार सूक्ष्मता के विषय में भी समझना चाहिए। उपादान कारणों की सूक्ष्मता अन्वयीसूक्ष्मता अर्थात् कार्य की अपेक्षा से सूक्ष्मता है। प्रकृति और परमाणु की सूक्ष्मता कार्य की वह पराकाष्ठा है जिससे बढ़कर फिर वह सूक्ष्म नहीं हो सकता है। यह अवस्था प्रकृति[4] की

१—संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् न्या० ४।१।४१

२—आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्। सां १।७४; पारम्पर्येऽपि-प्रधानानुवृत्तिरणुवत्, गतियोगेप्याद्यकारणताहानिरणुवत्। सां ६।३५।३७।।

३—द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च तत्र कूटस्थ-नित्यता पुरुषस्य परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्य-माने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। यो० व्या० ४।३३
ऐसा ही महाभाष्य में भी हैं।

४—न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्तस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति, सत्य यथा लिङ्गात् परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य किन्तु लिङ्गस्य अन्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्—यो० १।४५

है और परमाणुओं की है। जहाँ पर अन्तर[1], बाहर आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता और जो विभागनर्द है उसे ही न्याय और वैशेषिक में परमाणु कहा गया है। यह परमाणु की अन्तिम अवस्था प्रकृति में परिसमाप्त है। सांख्यकार ने भूततन्मात्रारूपी अणुओं को अनित्य माना है। वैशेषिकोक्त पराकाष्ठा के अपकर्ष को प्राप्त परमाणुओं को नहीं। अनन्वयी अर्थात् स्वाभाविकी सूक्ष्मता आत्मा और परमात्मा की है। अन्वयी सूक्ष्मता की पराकाष्ठा प्रकृति एवं परमाणु में है।

सांख्य अणु महत्, और विभु परिमाण से ही कार्य चल जावेगा, ऐसा स्वीकार करता है, अतः ह्रस्व और दीर्घ को इनके ही अन्तर्गत मान लेता है। वैशेषिक चारों का वर्णन करता है। यह वस्तुतः खण्डन नहीं है। सामान्य को तो सांख्यकर्त्ता ने (सां० ५।९१-९२) स्वीकार किया ही है। समवाय का भी सांख्य में खण्डन नहीं समझना चाहिए। सांख्य का यह सिद्धान्त है कि कार्यसत्ता कारण में सत्तारूप से विद्यमान रहती है। उत्पत्ति केवल कार्य के वर्तमानावस्था में आने एवं अभिव्यक्ति को कहा जाता है। कार्य का यह अभिव्यक्त इसी रूप में कारण में नहीं रहता है। अतः सत्तारूप से कारण में विद्यमान कार्य का कारण के साथ समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) तो हो सकता है परन्तु कार्य के अभिव्यक्त प्रकार का जो देश और काल से परिच्छिन्न है। अपने कारण के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी समवाय का सांख्य में खण्डन है वैशेषिकोक्त समवाय का नहीं। क्योंकि वैशेषिक कहीं पर भी कार्य के वर्तमान रूप के साथ कारण समवाय सम्बन्ध नहीं बतलाता है। सामान्य, विशेष और समवाय आदि अपेक्षा बुद्धि से परिज्ञात होते हैं। जहाँ अपेक्षाबुद्धि नहीं वहाँ पर इनका ज्ञान नहीं होता है। अतः अनपेक्षाबुद्धि के विषयभूत साम्यवस्थापन्न प्रकृति में इनका परिज्ञान नहीं होता है—इस बात को दर्शाने के लिए सांख्य ने समवाय का स्पष्टीकरण किया है।

न्याय और वैशेषिक इन्द्रियों को भूतजन्य मानते हैं क्योंकि जिस भूत से

१—अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्येत्यादि न्या० ४।२।२०

जो इन्द्रिय उत्पन्न होती है वह उसी के गुण से युक्त पदार्थ को देखती है। सांख्य ने इन्द्रियों को अहंकार का कार्य माना है। इससे परस्पर विरोध मालूम पड़ता है। परन्तु इसमें भी विरोध की स्थिति नहीं। इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भेद सें दस हैं। मन उभयात्मक है। मन का भी इन इन्द्रियों में ही सन्निवेश है। यह सांख्य का सिद्धान्त है। न्याय में विशेषतया पांच ज्ञानेन्द्रियों पर विचार किया गया है। मन को पृथक् माना गया है। इन्द्रियाँ अपने भूतों के गुणों को देखती है अतः एक इन्द्रिय दूसरे के विषय को नहीं देखती है। इन दोनों सिद्धान्तों को विचारने पर पता चलता है कि इन्द्रियों में भौतिकता व अभौतिकता दोनों हैं। इन्द्रियभूतों में विद्यमान रूप आदि गुणों के ग्रहण की जो शक्ति रखती है वह भौतिक धर्म है। परन्तु गुणों का इनसे प्रत्यक्ष होने पर भी द्रव्य, संस्था, जाति और अभाव आदि का प्रत्यक्ष मन से होता है। जब कि ये अपने-अपने ही विषयों को जान सकती हैं। मन प्रत्येक के विषय को जान सकता है और साथ ही वह कर्मेन्द्रिय का कार्य भी करता है। मन के संपर्क से होने वाला इन्द्रियों का ग्रहण इन्द्रियों का भौतिक धर्म नहीं है। यह शक्ति धर्म है जो मन और अहंकार के सम्बन्ध से इनमे है। मन का उभयात्मकत्व और प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के विषय के ग्रहण में उसकी क्षमता यह सिद्ध करती है कि उसमें अहंकारिक धर्म[1] है। अन्यथा वह भी एक ही विषय के ज्ञान से बंधा रहता है। सांख्य ने मन को इन्द्रियों में माना है और न्याय ने इन्द्रियों को भूतों से मानकर मन को पृथक् माना है। अतः सांख्य का मन को इन्द्रिय मानकर उसकी भौतिकता का खण्डन है; यदि सबको भौतिक माना जाता तो मन को भी भौतिक मानना पड़ता जो संभव नहीं। साँख्य ने अपने मत के स्पष्टीकरण के लिए यह दिखलाया कि इन्द्रियां एकान्ततः भौतिक ही हों—यह सिद्धान्त नहीं है। वे आहंकारिक भी हैं क्योंकि मन का भी उनमें सन्निवेश है। न्याय और वैशेषिक को इन्द्रियों का जो भौतिकत्व अभिप्रेत है उसका सांख्य ने खण्डन नहीं किया है। उसने केवल अपनी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण किया है।

१—न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः ॥ सां० ५।८४

इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र[1] में जो साँख्य और न्यायवैशेषिक आदि का खण्डन दिखलायी पड़ता है वह केवल आभासमात्र का खण्डन है, वास्तविक खण्डन नहीं। व्यास को इतना ही कहना अभिप्रेत है कि बिना निमित्तकारण परमेश्वर को स्वीकार किये जड़ प्रकृति एवं परमाणु जगत को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनमें ज्ञान और क्रिया का अभाव है। परन्तु ये जगत् के कारण नहीं हैं अथवा उपादान नहीं है, वा इनकी सत्ता नहीं है यह वेदान्त शास्त्रकर्त्ता को अभिप्रेत नहीं है। साँख्य, न्याय आदि में कहीं पर भी बिना परमेश्वर की निमित्तता के प्रकृति अथवा परमाणु आदि से जगत की रचना का वर्णन नहीं है। अतः वेदान्त में इन दर्शनों का खण्डन नहीं। केवल ब्रह्मरूपी निमित्त कारण की उपादेयता को सिद्ध करने का यह प्रयास है। वेदान्त २।१।[2]३ और २।१।१२ से योग और वैशेषिक आदि का खण्डन नहीं है। उससे अन्य आचार्यों के उन सिद्धान्तों का खण्डन है जो ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता न स्वीकार करें।

सृष्टि-रचना के प्रकरण को ही बहुधा दर्शनों में विरुद्ध बतलाया जाता है। आचार्य दयानन्द का कथन यह है कि सृष्टि का वर्णन मुख्यतः सांख्य और वेदान्त में ही पाया जाता है। शेष चार में तो प्रासंगिक वर्णन है। सांख्य में प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर तीन तत्त्वों को अनादि मानकर सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। परमात्मा सर्ववित् और सर्वकर्त्ता है। प्रकृति उसके अधीन है। जीव भी अनेक हैं और नित्य हैं परन्तु इनको भोग आदि की व्यवस्था परमात्मा के द्वारा होती है। परमात्मा की निमित्तता से प्रकृति में क्षोभ होकर उसकी साम्यावस्था भङ्ग होती है। तत्पश्चात् उससे महत्तत्व, पुनः उससे अहंकार और अहंकार से एक तरफ पंचतन्मात्रायें दूसरी तरफ मन सहित एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पंचतन्मात्रावों पांच महाभूत और उनसे पुनः शरीरादि कार्य पदार्थ और विविध सृष्टि पदार्थों की रचना होती

१—ईक्षतेर्नाशब्दम्–वे १।१।५; रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्। वे० २ २।१; महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्। वे० २।२।११, १२, १३॥

२—एतेन योगः प्रत्युक्तः; वे० २।१।३, एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः। वे० २।१।१२

है[1]। वेदान्त दर्शन में भी ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि माना गया[2] है। ब्रह्म की निमित्तता से प्रकृति रूपी उपादान में क्षोभ होकर जगत् उत्पन्न होता है। वेदान्त का क्रम भी वही है जो सांख्य का क्रम है। सृष्टि-रचना का सांख्य का क्रम इतना प्रसिद्ध और वैज्ञानिक है कि वही सर्वत्र स्वीकार किया गया है। अतः इसमें किसी प्रकार के मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता है।

एक झगड़ा पूर्वपक्षी लोग यहाँ पर उत्पत्ति की प्रक्रिया पर खड़ा करते हैं। उनका कथन है कि वेदान्त में विवर्त्तवाद, सांख्य में परिणामवाद और न्यायवैशेषिक में आरम्भकवाद है। परन्तु यह झगड़ा व्यर्थ का है और नवीनों द्वारा कल्पित किया गया है। विवर्त्तवाद सृष्टि रचना का कोई प्रकार ही नहीं है। जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए यह वाद खड़ा किया गया है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प का विवर्त्त है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत का विवर्त्त है। परन्तु इस वाद वालों को यह ज्ञात होना चाहिए कि इस वाद में कार्यकारण का नियम बनता ही नहीं। कार्यकारण का नियम यह है कि कारण गुणपूर्वक कार्यगुण होते हैं और कार्य का अपने कारण में लय होता है। सर्वत्र उपादान की प्रक्रिया में ऐसा ही पाया जावेगा। परन्तु विवर्त्त में यह नहीं बनता। रस्सी के स्थान में सर्प बैठा देना अथवा किसी दूसरी वस्तु के स्थान में अन्य वस्तु बैठाना—यह सृष्टि की रचना नहीं है। जगत् के जिस मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए यह वाद खड़ा किया गया है वह भी इससे सिद्ध नहीं होता। न तो रस्सी ही भ्रम एवं मिथ्या है और न उसमें प्रतीत होने वाला सर्प ही। साथ ही जिसको ऐसा प्रतीत हो रहा है वह भी मिथ्या नहीं। जब ब्रह्म के ज्ञान में इनका अस्तित्व बना है और हर कल्प में ये ऐसे ही प्रकट होते हैं तो ये मिथ्या किस प्रकार हैं।

रह जाते हैं आरम्भक और परिणामवाद। इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। दही जब जमता है तब चाहे हम यह कहदें कि दूध में दही का परिणाम

१—सांख्य १।६१

२—त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ वे० १।४।६

हुआ अथवा यह कह दें कि विकार-प्राप्त दुग्धगत परमाणुओं से दही का आरम्भ हुआ। दोनों एक ही बात है। घी के पिघलने और जमने में भी चाहे हम आरम्भ माने चाहे परिणाम, बात दोनों एक सी ही है। रबड़ के एक टुकड़े को खींचने पर वह बड़ा हो जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि रबड़ के परमाणुओं ने इतने बड़े रबड़ का आरम्भ कर दिया अथवा यह भी कह सकते हैं कि रबड़ के टुकड़े में छिपे हुये इस बड़े आकार का उसने परिणाम कर दिया। वस्तुतः दोनों में एक ही बात पायी जाती है। कोई भेद नहीं। इस दृष्टि से भी दर्शनों में समन्वय ही है।

तीसरे प्रकार से समन्वय की सरणि यह है कि दर्शनशास्त्र के कुछ मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। उन विषयों में छः दर्शनों का परस्पर कोई विरोध है ही नहीं। नीचे की तालिका इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालेगी :—

१—वेद की स्वतः प्रमाणता और उससे ही दर्शन विज्ञान की प्रेरणा कर लेना।

२—वेदों के आध्यात्मिक और धर्म सम्बन्धी विचारों पर तार्किक गवेषणा सब में पायी जाती है।

३—सभी दर्शन संशयवाद और भ्रमवाद तथा अभाव का निराकरण करके तत्वात्मक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। तथा सृष्टि में एक सामंजस्य मानते हैं। तथा इसका अन्तिम उद्देश्य भी स्वीकार करते हैं।

४—मीमांसा में प्रत्यक्ष इसका वर्णन नहीं हैं परन्तु शेष सभी दर्शन जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और सृष्टि प्रवाह की अनादिता को स्वीकार करते हैं।

५—निःश्रेयस एवं मोक्ष को सभी मानते हैं।

६—आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को सभी ने माना है।

७—भाव से भाव की उत्पत्ति तथा प्रकृति एवं परमाणु के रूप में जगत् के उपादान कारण को स्वीकार करते हैं।

८—संख्या में अन्तर भले हो परन्तु प्रमाण को सभी स्वीकार करते ।

९—जीवात्मा अपने कर्मानुसार फल को भोगता है, भिन्न-भिन्न जन्मों को धारण करता है—आदि में सभी का ऐकमत्य है।

१०—इन्द्रियों के विषय में सभी एक-सा विचार रखते हैं।

११—जीव और ईश्वर का भेद है तथा जीव अनेक हैं–यह लगभग सभी को स्वीकार हैं।

१२—पाप और पुण्य के विषय के विचार परस्पर एक दूसरे से मिलते जुलते ही है।

इस प्रकार छः दर्शनों का परस्पर समन्वय पाया जाता है। चतुर्थ सरणि जो आचार्य दयानन्द के अनुसार दर्शनों के समन्वय की है वह है सृष्टि-रचना के छः कारणों को लेकर। यह वस्तुतः सर्वोत्तम सरणि है। सृष्टि की रचना में कर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान है। बिना कर्म के सृष्टि बनना ही सम्भव नहीं। मीमांसा में ऋषि का कथन है कि इस कर्म का वर्णन है। ऋग्वेद १० म मण्डल के १३० वें[1] सूक्त में यज्ञ के द्वारा सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है। वहाँ पर सृष्टि-रूपी वस्त्र को १०१ कर्मों से बनाया गया वर्णित किया गया है। साथ ही एक मंत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि इस सृष्टि-रूपी यज्ञ के सात दैव्य ऋषि=सप्त दिव्य तत्व अपने जाने के योग्य तद्रूप प्रतिष्ठित ज्ञान से युक्त छादक एवं विस्तारक शक्ति से युक्त, और प्रमा=मान, यथार्थ वस्तुरूप, जाति, आकृति, वशेष आदि भावों से युक्त हुये प्रकट होते हैं और पूर्व कल्प में वर्ते गये सृष्टि-रचना के मार्ग पर चलते हुये आगे सृष्टि के कार्यों को अपने में परिणत हुआ प्राप्त करते[2] हैं। मन्त्र का यह सारा भाव यज्ञ में भी अर्थान्तर करने पर घटेगा। यहाँ पर इसके दिखलाने का इतना ही तात्पर्य है कि यज्ञ विस्तार के द्वारा सृष्टि-रचना के विस्तार का भी परिज्ञान होता है। अतः मीमांसा में जो यज्ञों की व्याख्या की गयी है उससे सृष्टिरूपी यज्ञ की प्रक्रिया का भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है। मीमांसा दर्शन धर्म का प्रतिपादन करता है। वह धर्म इस शास्त्र के अनुसार विधि प्रतिपाद्य है। वेद का सृष्टिगत

१—यो यज्ञो विश्वतन्तुभिस्ततः एकशतं देवकर्मेभिरायतः ॥
ऋ० १०।१३०।१

२—सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रभा ऋषयः सप्तदैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्योह न रश्मीन् ॥
ऋ० १०।१३०।७।

पदार्थों के साथ औत्पत्तिक = उत्पत्ति-सम्बन्धी सम्बन्ध है अतः वेद ही इस धर्म के विषय में स्वतः प्रमाण है। धर्म दो प्रकार का होता है—पदार्थधर्म, कर्ममय-धर्म। पदार्थ धर्म का विशेषरूप से प्रतिपादन वैशेषिक आदि शास्त्रों में पाया जाता है। परन्तु कर्ममय धर्म का प्रतिपादन विशेषतया मीमांसा में किया गया है। कर्म का स्वेच्छापूर्ण होना और अनिच्छापूर्ण होना भी पाया जाता है। अनिच्छापूर्वक होने वाले कर्म केवल शरीर आदि की रक्षा के लिए हैं अतः उन्हें करने की आवश्यकता नहीं। मीमांसा में इसका वर्णन नहीं किया गया है। स्वेच्छापूर्वक होने वाले कर्म इच्छा के साथ किये जाते हैं। इनमें विधि निषेध होता है। साथ ही कर्त्ता, कर्म और क्रिया इन तीनों के समन्वय से होता है। मनुष्य को जिन यज्ञों के करने का विधान है वे यज्ञ सृष्टि में एक अन्य ही प्रकार से चल रहे हैं। समस्त सृष्टि भी एक यज्ञ है। मनुष्य परमात्मा की सृष्टि में चलने वाले यज्ञों की अनुकृति कर अपने यज्ञों का विस्तार करता है। उसके यजाते = यज्ञ कर्म का सम्बन्ध देवता, द्रव्य, त्याग, क्रिया और उद्देश्य से युक्त है। साथ ही इसमें राग लगा है। अतः उससे संस्कार एवं अदृष्ट उत्पन्न होते हैं और उनका फल होता है। अदृष्ट की स्थिति दो प्रकार की है—एक प्रकार यह है कि कर्म से उत्पन्न संस्कारों से वासना बनती है जो अदृष्ट कहलाती है। उसी के अनुसार फल होते हैं। दूसरा प्रकार अदृष्ट का वह है जो निमित्त कारण की क्रिया से पदार्थों में क्रिया-प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है अथवा पदार्थ का अपना स्वाभाविक कर्म है। सूची को जब चुम्बक आकृष्ट करता है। तब इस आकर्ष को अदृष्ट कहा जाता है। आकाश में जब मेघस्थ जल का विलयन होता है तब उसे अदृष्ट कह दिया जाता है। जल का अधोगमन और अग्नि का ऊर्ध्वंगमन कर्म है। यह पदार्थ धर्म का कर्म है। अतः कभी यह कर्म दिखलाई पड़ते हैं और कभी नहीं दिखलायी पड़ते हैं। विधिनिषेधात्मक यज्ञ-कर्म से उत्पन्न अदृष्ट का फल होता है परन्तु सृष्टि के निमित्त कारण परमेश्वर के द्वारा किये गये सृष्टि यज्ञ के कर्म सृष्टिगत पदार्थों में क्रिया प्रति-क्रिया रूप अदृष्ट को उत्पन्न करते हुये भी पुरुष कर्म के अदृष्ट से होने वाले फल को नहीं देते, क्योंकि उसमें राग नहीं है और कर्त्ता स्वयं आप्त काम है। सृष्टि यज्ञ में होने वाले इस कर्म से क्रिया–प्रतिक्रिया, संयोग–विभाग,

विश्लेषण-संश्लेषण आदि होते हैं। इसने जगत् सदा गतिमान रहता है। इस का नाम भी जगत् है जो चलने वाला है। यह गति कर्ता की है और उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्म को करती हुई प्रवाहित हो रही है। मीमांसा के यज्ञों सम्बन्धी कर्म के अध्ययन से इस कर्म का संकेत मिलता है। अतः ऋषि का यह कहना कि मीमांसा सृष्टि के कर्म रूप कारण की व्याख्या करता है सुतराम ठीक है। मीमांसा के प्रतिपाद्य विषय धर्म का वेद से प्रतिपादित होना और वेद के पदों का सृष्टि के पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध स्थापित करना इस उद्देश्य की ही पुष्टि करते हैं।[१]

महर्षि ने वैशेषिक में सृष्टि के दूसरे कारण काल की व्याख्या का होना लिखा है। वैशेषिक को देखने पर उसमें छः पदार्थों का प्रतिपादन मिलता है। फिर यह काल मुख्य प्रतिपादन का विषय है—यह कैसे सिद्ध हुआ? वैशेषिक की आन्तरिक परीक्षा करने पर महर्षि का यह कथन सर्वथा ही सिद्ध कोटि में आवेगा। महर्षि के अतिरिक्त भी लोग वैशेषिक को कालवादी मानते थे। जैमियों के ग्रन्थ सुन्दर-विलास के आत्मानुभव के १७ वें अंग में भी ऐसा वर्णन पाया जाता है कि वैशेषिक कालवादी[२] है। वैशेषिक धर्मवादी दर्शन है। यह पदार्थधर्म और कर्तव्यधर्म दोनों का ही वर्णन करता है। परन्तु पदार्थधर्म का इसमें विशेष वर्णन है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष समवाय में द्रव्य, गुण, और कर्म सत्तात्मक पदार्थ से सम्बन्ध रखते हैं। ये तत्त्वात्मक हैं। परन्तु सामान्य, विशेष और समवाय केवल सम्बन्ध (Relations) हैं। ये सम्बन्धातिरिक्त कोई वस्तु नहीं हैं। परन्तु सम्बन्ध का प्रतिपादन बिना वस्तु सत्ता के सम्भव नहीं, अतः वस्तु के साथ इसका प्रमाणीकरण वैशेषिक में किया गया है। द्रव्यों का वर्णन करते हुये भी पृथिवी, जल, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को परिगणित किया गया है। यहाँ भी काल और दिशा को द्रव्य

१—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्।

मी० १।१।५

२—"वैशेषिक प्रतिकालवादी है प्रसिद्ध" सुन्दर विलास आत्मानुभव अंग १७.

मान कर वैशेषिक ने अपनी विशेषता का प्रतिपादन किया है। । वैशेषिक नाम ही विशेष को पदार्थ मानने से हुआ। अतः विशेष इसका मुख्य विषय है ही। ये सामान्य, विशेष और समवाय बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं। जब तक अपेक्षा बुद्धि न पायी जावे, इनकी प्रतीति होती नहीं। यह अपेक्षा बुद्धि तभी पायी जा सकती है[1] और इनका परिज्ञान हो सकता है जब दिशा और काल का खेल वस्तु पर अपना प्रभाव रखता हो। दिशा केवल मूर्त्त पदार्थों पर अपना प्रभाव रखती है परन्तु काल अमूर्त्त अर्थात् बोद्ध प्रत्ययों पर भी अपना प्रभाव रखता है। दिशा का प्रभाव भूर्त्तता से मालूम होता है और काल का प्रभाव पदार्थ की जन्यता से ज्ञात होता है क्योंकि यह जन्य पदार्थों का जनक[2] है। द्रव्य, गुण और कर्म का भी परिभाषा में आने वाला ज्ञान तव तक नहीं हो सकता जब तक काल का विचार न उत्पन्न होता हो। द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य आदि सम्वन्ध जब एक क्रम विशेष (एक आर्डर) में होते हैं तभी इनको हम जान सकते हैं। यह स्थिति और क्रम विशेष काल के अन्दर होता है। अतः काल एक मुख्य कारण है वैशेषिक प्रक्रिया का। विशेष प्रतीति भी कार्य द्रव्य में होती है और वह भी काल की अपेक्षा रखती है। वैशेषिक की काल सम्बन्धी यह परिभाषा कि "नित्यों में न हो और अनित्यों में पाया जावे अतः काल कारण है" इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। काल जन्यमात्र का कारण है और वैशेषिक प्रक्रिया में इसका मुख्य स्थान है।

महर्षि सृष्टि के महत्वपूर्ण कारण उपादानकारण की व्याख्या न्याय में मानते हैं। न्यायदर्शन में वस्तुत १६ पदार्थों का वर्णन है। परन्तु विश्लेषण करने पर ये सभी प्रमाण और प्रमेय में ही संगृहीत हो जाते हैं। तर्क विद्या के वर्णन की दृष्टि से इनका पृथक-पृथक वर्णन है। प्रमाण का विषय प्रमेय है जो प्रमाणों से सिद्ध होता है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष

१—सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्। वै० १।२।३

२—नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। वै० २।२।९

तथा

सर्वकार्याणां चोत्पत्ति स्थिति विनाश हेतु स्तद्व्यपदेशात्= प्रशस्तपाद।

प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग प्रमेय हैं। इनमें से कुछ वास्तविक तत्त्व हैं और कुछ सयोगी वियोगी अथवा क्रियाजन्य धर्म हैं। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि और मन तत्त्वात्मक हैं। बुद्धि आत्मस्थित है। शरीर, इन्द्रिय, अर्थ और मन आदि भूतात्मक हैं। मन उसी प्रकार भूतात्मक नहीं जिस प्रकार इन्द्रिय आदि हैं। इन भूतात्मकों का मूल कारण परमाणु है। वैशेषिक की भांति न्याय शास्त्रानुसार अवयवी एक पदार्थ है जो प्रत्येक कार्यक्रम में विद्यमान है। एकत्व प्रतीति और आकर्षक धारण आदि उसकी वजह से हैं। यही प्रतीति का भी विषय है। कार्य द्रव्य केवल परमाणु समूह ही नहीं है। परमाणुओं के समूह में अवयवी एक विशेष पदार्थ है जो कारण के बहुत्व और कारण के महत्व और प्रचय विशेष से उत्पन्न है। यह अवयवी न अभाव है और न मिथ्या ही है। अवयवी पदार्थ का अत्यन्त अपकर्स करते समय जहाँ पर अवयव-धारा की समाप्ति होती है वही परमाणु हैं। परमाणु अवयव तो हैं परन्तु वे अवयवी नहीं है। फिर यह अवयवी कार्यद्रव्यों में किस प्रकार आता है न्याय में इसका विशेष विचार है। अवयवी परमाणुओं का प्रारम्भ होने से कार्य वस्तुओं में होता है। कारण द्रव्य में अवयवी नहीं है। कार्य में होने वाला यह अवयवी अपने कारणभूत परमाणुओं के आरम्भ से क्यों आता है? इसका कारण उपादानता का नियम है। निमित्तकारण कार्य को बनाता तो है परन्तु उसकी सत्ता, गुण आदि कार्य में नहीं आते हैं। उपादान का यह नियम है कि उसके गुण कार्य में आते हैं। अतः कार्यगत अवयवी उपादान नियम के कारण से कार्य में आता है। यही कारण है कि बिना उपादान के कोई भी कार्य बन नहीं सकता है। न्यायदर्शन में परमाणु की सिद्धि में अवयवी का अपकर्ष करते हुये अन्तिम अपकृष्ट अवयव को परमाणु कहते हैं—यह वर्णन उपादान के नियम का प्रत्यायक है। वस्तुतः यह उसका एक प्रधान विषय है।

योग में पुरुषार्थ की व्याख्या है। पुरुष का प्रयोजन ही पुरुषार्थ है। यह लौकिक और कैवल्य भेद से दो प्रकार का है। यह पुरुषार्थ ज्ञान, विद्या और विचार के बिना नहीं सिद्ध होता है। संसार में प्रकृति के तीनों गुण परमात्मा की निमित्तता से प्रवृत्त होकर विविध दृश्यों के उत्पन्न करते हैं। परन्तु प्रकृति के गुणों का इस प्रकार दृश्य में प्रवृत्त होने का कारण क्या है? इसका उत्तर है क पुरुषों योजन ही कारण है। सृष्टि-रचना के उद्देश्य में पुरुष का प्रयोजन दिया है। जब यह प्रयोनपू हो जा तब प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष

के लिए नहीं होती है। सृष्टि करने का प्रयोजन पुरुष के कर्मों का[1] फल देना और कैवल्य[2] की प्राप्ति है। परम पुरुष परमेश्वर के गुण, कर्म स्वभाव की सफलता का प्रकाश भी इसी से होता है। इस प्रकार पुरुषार्थ सृष्टि का प्रयोजन है और योगशास्त्र में मुख्य रूप से इसका व्याख्यान है।

सांख्य शास्त्र तत्त्वों के परिगणन और मे की व्याख्या करता है। रचना का कार्य संयोग और विभाग के बिना नहीं हो सकता है। कहीं पर तत्त्वों का संयोग करना पड़ता है और कहीं पर विभाग करना पड़ता है। विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया रचना का एक मुख्य अग है। कोई भी विश्लेषण तब तक ठीक नहीं माना जा सकता है जब तक वह संश्लेषण पर ठीक न उतर जावे। इस प्रक्रिया में तत्त्वों के मेल के अनुक्रम (Order) को कारण से प्रारम्भ करके अन्तिम कार्य तक क्रमशः विचार किया जाता है। और कार्य से कारण की ओर चलते हुए विचार किया जाता है। साथ ही इसके सहायक कारणों पर भी प्रसंगतः विचार किया जाता है। सांख्य में तत्त्वों का अनुक्रम परिगणन करते हुये यही प्रक्रिया वर्ती गयी है। सांख्य में सबसे बड़ा विस्तार गुणों का है। सत्व, रजस् और तसस् के विचित्र सम्मिलन से ही सृष्टि की सारी विचित्रता है। गुणों का संमिलन एकमात्र प्रधान विषय है जो सांख्य में प्रतिपादित किया गया है। राग-गुणों और विराग=पुरुष के योग का नाम सृष्टि है।[3] इस प्रकार यह सुतराम् ठीक ही है कि सांख्य में तत्त्वों के मेल का ही मुख्यतया प्रतिपादन है।

वेदान्त में जगत् के मुख्य निमित्तकारण जगत्कर्त्ता ब्रह्म का प्रतिपादन है। यह वहुत ही स्पष्ट वात है। वेदान्त के प्रथम चार सूत्र ही इस तथ्य को प्रतिज्ञा रूप में प्रकट करते हैं। वेदान्त दर्शन में यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि कर्त्ता ब्रह्म के बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वेदान्त जहाँ ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता, और हर्त्ता बतलाता है वहाँ ज्ञान का भी कारण उसी को बतलाता है। कोई भी उपादान कारण जो स्वभावतः जड़ है उसमें निमित्त-कारण चेतन ब्रह्म के बिना क्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती। बिना क्रिया। और

---

१. भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। यो० १।१८

२. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्। यो० ४।३४

३. रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ।।सां० २।९

ज्ञान के प्रकृति, परमाणु आदि उपादान कारण जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। स्वभाव की भी कारणता का वेदान्त में खण्डन है। क्योंकि जड़ वस्तु में बनने और बिगड़ने का दो विरोधी स्वभाव अपने आप नहीं हो सकता है। यदि स्वभाव निर्मंत्रित है तो फिर जिसके नियंत्रण में है उसे निमित्तकारण ब्रह्म कहा जाता है। यदि नियंत्रित नहीं है तो सदा बनना अथवा बिगड़ना बना ही रहेगा। और साथ ही दो विरोधी स्वभावों का संघर्ष होने से कुछ भी बनना-बिगड़ना असम्भव हो जावेगा। ब्रह्म की ज्ञानमयी क्रिया से प्रकृति का सृष्टि रूप में परिणाम होता है। इस प्रकार वेदान्त ब्रह्म की व्याख्या करता है।

छः दर्शनों में सृष्टि के छः कारणों की व्याख्या की गई है यह दिखलाया गया है। इसी आधार पर छः दर्शनों का परस्पर समन्वय है। यही महर्षि का दृष्टिकोण है।

सदाचार महिमा

'आचार वैभव का उत्पादक, कीर्ति और आयु का बढ़ाने वाला और बुरे लक्षणों का नाश करने वाला है। सभी शास्त्रों में आचार को ही श्रेष्ठ वस्तु मानने में आया है। धर्म आचार से उत्पन्न होता है और धर्म पालन से आयुष्य बढ़ता है। आचार-पालन से मनुष्य को यह लोक तथा परलोक में आयुष्य कीर्ति और धन मिलता है। आचार पालन से आयु चाही सन्तान और पुष्कल सम्पत्ति मिलती है और बुरे लक्षणों का विनाश होता है। दुराचारी मनुष्य संसार में सब की निन्दा बटोरता है। हमेशा दुःखी, रोगग्रस्त और न्यून आयु वाला होता है।

—ऋषि दयानन्द

श्रावणी

बुद्धि-विभव के नव विकास के, गा-गा कर मधुगान श्रावणी !
जड़िमा के विनाश-हित आर्यों ! करती है आह्वान श्रावणी !
शिक्षा का शिव रूप भ्रष्ट कर, कब व्यवहार पनप पायेगा ?
'संगच्छध्वं' को बिस्मृत कर, कब परिवार पनप पायेगा ?
भुला 'मनुर्भव' अणुबम सेवी, कब संसार पनप पायेगा ?
'मा भैः' का उद्घोष छोड़कर, कब आधार पनप पायेगा ?
इसीलिए, बतला-दिखला कर, गुरुकुल-सौम्यविधान श्रावणी !
विकृति नष्ट कैसे हो सकती ? यदि न प्रकृति का परिचय पाया;
निष्कृति 'प्राप्य' न होने वाली, यदि न सुकृत-गुण संचय पाया;
आत्मज्ञान की दिशा अजानी, यदि न सुमतिमय अभिचय पाया;
जगन्नियन्ता रहे अपरिचित, यदि न चित्त-विभु-निश्चय पाया;
इसीलिए, सच्चिदानंद की, करा रही पहचान श्रावणी !
कोरी श्रद्धा के आंचल में, ढोंगों का परिवार किलकता;
जड़ तीखे तर्कों के घट से, कलह-कलुष-मदसार छलकता;
दृष्टिकोण सीमित करने से, पल-पल भ्रष्टाचार पुलकता;
आकाशी आदर्श पाल, मल पीने को संसार ललकता;
इसीलिए, कर रही समन्वित मति-मेधा, तन-प्राण श्रावणी !
वेद पढ़ो, समझो-समझाकर, व्यवहारों में पद-पद पालो;
रूढ़ि-ढोंग के घेरे तोड़ो, कारा से ऋत-सत्य निकालो;
आस्तिक पर-हित-निरत जनों के, कोटि-कोटि दृढ़ साँचे ढालो;
काट निराशा के फंदे सब, आस्था--निष्ठा-श्री प्रतिपालो;
उपाकर्म-मिस प्रस्तुत करती, सम्मुख लक्ष्य महान् श्रावणी !

भैरवदत्त डालीगंज, (लखनऊ)

वेद में इतिहास विचार

पं० मुनीश्वरदेव, सिद्धान्तशिरोमणि
(अम्बाला छावनी)

वेद में इतिहास नहीं, आर्य समाज की इस मान्यता ने सभी को 'वेद' के भाव समझने के लिए नयी-सही दिशा प्रदान की है। विद्वान लेखक ने प्रस्तुत लेख में इसी स्थापना पर तर्क-युक्ति प्रमाण सहित विचार कर भ्रांतियाँ मिटाने का सराहनीय कार्य किया है— —संपादक

अपूर्व्येणेषिता वाचस्ता वदन्तियथायथम् । ऋ० १०-८-३३ । वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' (आचार्य दयानन्द) वेद (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् —वैशेषिक १-१-३) के अनुसार ईश्वरोक्त होवें से स्वतः प्रमाण और (धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति :—मनु० २।१३) के अनुसार वेदानुयायियों के लिए परम प्रमाण हैं। सर्गारंभ में परमपूज्य परमेश्वर ने मानव मात्र के कल्याण हेतु (यथेमांवाचं कल्याणीमावदानिजनेभ्य: यजु० २६-२) इस पवित्र वेदवाणी का उपदेश किया है। निःसन्देह यह वेदवाणियां पावमानी: स्वस्त्ययनी० सा० उ० ५-) पवित्र और कल्याणकारिणी हैं। अतएव (ऋतस्यधीतिरंजनानिहंति ऋ० ४-२३-८) वेद का ध्यानपूर्वक निरंतर अध्ययन एवं तदनुसार आचरण मानव के सभी विसर्जनीय-पापों-दोषों को नष्ट कर देता है। क्या इस ईश्वरोक्त उपदेश-प्रद ज्ञान-पुस्तक में किसी व्यक्ति,

जाति व देश विशेष से सम्बन्ध रखने वाली घटना विशेषों का अथवा कथा प्रसंगों का होना संभव माना जा सकता है ?

आचार्य दयानन्द का मत

वेद ईश्वरोक्त हैं, के समर्थन में आचार्य दयानन्द सरस्वती जी महाराज जो वेदों के बहुत बड़े विद्वान् थे—वे अपने अमर ग्रन्थ रत्न 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम स मुल्लास में कुच्छेक तर्क उपस्थित किए हैं, उनमें से एक यह है—

"वेद में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु जिस जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है, किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा व विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।"

"और इतिहास जिसका हो उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है, वह ग्रंथ भी उसके जन्म के पश्चात् होता है।"

अतः सिद्ध है कि वेद का प्रकाश परम कारुणिक प्रभु ने सृष्टि के आरंभ में किया है, इसलिए उसमें व्यक्ति, जाति व देश विशेषों की घटित घटनाओं का उल्लेख सर्वथा असंभव है।

वेदों में इतिहास का भ्रम क्यों हुआ ?

ऐतिहासिकों को वेदों में पढ़े गए अगस्त्य, अत्रि, कण्व, विश्वामित्र, वसिष्ठ, पराशर, राम, सीता, कृष्ण, अर्जुन, अम्बिका, अम्बालिका, अयोध्या आदि लोक प्रसिद्ध शब्दों को देखकर (जोकि वस्तुतः किन्हीं विशेषार्थों वा दिव्य पदार्थों के प्रकाशक हैं) उनका यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही वेदों में इतिहास है, ऐसा भ्रम उत्पन्न हुआ। पाश्चात्य विद्वानों व भाष्यकारों तथा उनका अन्वानुकरण करने वाले तथाकथित भारतीय विद्वानों ने जो वेदों का ऐतिहासिक-कथा कहानी-प्रसंगयुक्त-ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह केवल वेद के प्रति आर्यो-वैदिक धर्मियों की आस्था को घटाने के लिए ही किया गया प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने वद मंत्रों में जब यह पारस्परिक सम्बन्धवाचक—प्राजापत्य हिरण्यगर्भः, भौवम विश्वकर्मा, काण्वमेधातिथि, औषिज कक्षीवान्, औचथ्य दीर्घतमाः, वैन्य पृथु, भार्गव वेन, मानवनाभानेदिष्ठः ऐलूष कवष, मान्व लहुष, आंगिरसकृष्ण, वैवस्त मनु, आत्रेयपूरू इत्यादि अनेक

शब्द हैं—देखे, तो झट विश्वास कर लिया कि वेद ऐतिहासिक ग्रन्थ है। और इसी विश्वास के आधार पर लोक-प्रसिद्ध व लोक-प्रचलित कथा-प्रसंगों को सन्मुख रख कर वेदभाष्य में अनर्थ कर दिया। अस्तु, अब इस गंभीर विषय को समझने से पूर्व वैदिक शब्दा के प्रकार व शैली को समझने का अत्यावश्यकता है, सामान्यतः शब्द तीन प्रकार के हैं, प्रथम रूढ़ि-अर्थात् वह शब्द जो सदा एकार्थ-बोधक हैं; यथाः— घट, पट, तक्र आदि। द्वितीय योग रूढ़ि—अर्थात् जो दो शब्दों के सयोग से बने हैं, यथा :—पंक+ज, नीर+ज, आदि यह भी एकार्थ बोधक ही होते हैं। तृतीय यौगिक—अर्थात् जो शब्द धातु से निष्पन्न होते हैं और (धातुनामनेकार्थत्वात्) जिनका अर्थ प्रकरणानुसार अनेक प्रकार का होना संभव है यथा :—अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि। इन त्रिविध शब्दों में से वेदों में प्रायशः यौगिक शब्दों का प्रयोग ही समझना चाहिए। यदि इस शब्द-विधि को समझ लिया जावे तो भी भाष्यकारों की एक बड़ी कठिनाई हल हो जाती है। इसी प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य विचार है कि जो शब्द जिस भाषा का हो, उसके अर्थ-बोध के लिए उसी भाषा के कोष की सहायता अपेक्षित होगी, जैसे—पंजाबी शब्दार्थबोध के लिए पंजाबी कोष, हिन्दी शब्दार्थ ज्ञान के लिए हिन्दी कोष और अंग्रेजी शब्दार्थ विचार के लिए अंग्रेजी डिक्शनरी की आवश्यकता होती है। ठीक इसी प्रकार वैदिक शब्दार्थ बोध के लिए वैदिक-कोष की सहायता लेनी होती है, यदि इस नियम के विपरीत आचरण अर्थात् पंजाबी शब्द का अर्थ संस्कृत कोष से और अंग्रेजी शब्द का हिन्दी-कोष से निकालने का प्रयास किया जावे तो, कहिये क्या सत्यार्थ का परिज्ञान संभव हो सकेगा। कदापि नहीं !! इस प्रकार वैदिक शब्दार्थ ज्ञान के लिए वैदिक कोष की उपेक्षा करके अन्य भाषा के कोषों से यदि अर्थबोध का प्रयत्न किया गया तो वह भी सर्वथा निष्फल ही सिद्ध होगा।

हमारे विचार में पश्चिमीय भाष्यकारों के भ्रम व भूल का मूल कारण यही प्रतीत होता है कि उन्होंने वेदों पर कुछ लिखते हुए जब किसी शब्द के अर्थ-ज्ञान की आवश्यकता अनुभव की, तब वैदिक कोष-निघण्टु निरुक्त और शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों को न देखकर अन्य-अन्य भाषाओं के कोषों को

देखते रहे और अर्थ का अनर्थ कर गए। इसी कारण उनको लोक-प्रसिद्ध शब्दों का वेद में प्रकरण और विषयानुसार क्या अभिप्राय हो सकता है, इस का वास्तविक ज्ञान उपलब्ध न हो सका। अतः लोक-प्रसिद्ध शब्दों को देख-कर उनको मानना पड़ा कि 'वेदों' में इतिहास, कथा-कहानी आदि के प्रसंग हैं।

शब्द-साम्य होते हुए भी अर्थ-साम्य नहीं। इसके अतिरिक्त यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि प्रत्यक्ष रूप से वैदिक शब्दों और लौकिक संस्कृत शब्दों में जहाँ समता होगी, वहाँ यह आवश्यक न होगा कि अर्थ में भी समता हो। उदाहरणार्थ—जैसे लौकिक भाषा में उक्षा, वृषभ, अनड्वान् आदि शब्दों का अर्थ 'बैल' है, तो क्या वेदान्तर्गत—

उक्षा स द्यावा पृथिविविभर्ति० ऋ० १०३१।८
अनड्वान् दाधार पृथिवीमुतद्याम्० अ० ४।११।१

इन ऋचाओं में उक्षा और अवड्वान् का अर्थ भी क्या 'बैल' संभव होगा? कदापि नहीं। क्योंकि द्यो-लोक और पृथिवी-लोक को धारण करने की शक्ति भला 'गो-जाये' बैल में कहां! अतः ऐसे स्थलों पर ऐतिहासिक लोग वैदिक शब्दों और लौकिक संस्कृत शब्दों में समता के कारण से अर्थ करने में भारी भूल कर जाते हैं। इसलिए वैदिक शब्दों का वैदिक कोष के आधार पर विषय और प्रकरणानुसार अर्थ करने में ही सौन्दर्य है।

अब पूर्वोक्त दोनों ऋचाओं में 'उक्षा' और 'अवड्वान्' का अर्थ वैदिक-कोषानुसार सूर्य है, जो निःसन्देह अपनी आकर्षक और धारक शक्तियों द्वारा द्यौ-लोक और भू-लोक को धारण कर रहा है। इसी प्रकार लौकिक संस्कृत भाषा में 'गोतम' एक ऋषि है, परन्तु वैदिक भाषा में 'गौतम' का भाव 'चन्द्रमा' है, लोक में 'अहिल्या, एक ऋषि-पत्नी है, परन्तु वेद में 'अहिल्या' रात्रि का नाम है। लोक 'वराह' शूकर का वाचक है, परन्तु वेद में 'बादल' का अर्थ देता है। लोक में 'पुरीष' मल का अर्थ देता है, परन्तु वेद में अमृत, रस, आदि का अर्थ बोधक है। लोक में 'घृताची' एक अप्सरा मात्र है, किन्तु वेद में 'रात्रि' का अर्थ देता है। लोक में 'जमदग्नि' एक ऋषि है, परन्तु वेद में इसका एक अर्थ 'चक्षु' है। इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि

वैदिक और लौकिक शब्दों में समता होते हुये भी अर्थ में अत्यन्त विषमता है। अतः शब्दार्थ करते हुए विषय व प्रकरण को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। अन्यथा इष्ट का अनिष्ट हो जावेगा।

हमारी तुच्छ सम्मति में यदि ऐतिहासिक लोग इस विषय व प्रकरणानुकूल वैदिक शब्दों के विनियोग की रीति को अपना लेते तो उनको वेदों में गाय, बैल, बकरे और घोड़े आदि की बलिदान-विधि का यज्ञ—जिसे ऊध्वर हिंसा रहित कर्म माना गया है—में विधान है—ऐसा कहने व लिखने का कभी दुःस्साहस ही न करते। अतः उक्त सब शब्द अपने-अपने विषय व प्रकरण में किन्हीं विशेषार्थों व विशेष विद्याओं से सम्बन्ध रखते हैं यही समझना चाहिए। अस्तु।

इसके साथ-साथ यह भी मंत्रार्थकर्ता को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि मंत्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय क्या है। देवता—ज्ञान से भी मंत्रार्थ-ज्ञान में अति सुगमता हो जाती है। परन्तु पाश्चात्यों के आचरण से ज्ञात होता है कि उन्होंने इसकी सदा उपेक्षा की है। जैसा कि—!

इदं विष्णुर्विचक्र० ऋ० १-२२-१७ का देवता विष्णु है, यहाँ विष्णु है यहाँ विष्णु सूर्य का वाचक है। परन्तु कथाकारों ने इसके साथ राजा बली का लम्बा चौड़ा इतिहास जोड़ दिया है। जब कि मंत्र में इस आशय का प्रकाशक एक भी शब्द नहीं है।

सोमानं स्वरणं कृणुहि० यजु० ३।२८ का देवता बृहस्पति है, बृहस्पति परमात्मा है, परन्तु ऐतिहासिकों ने इस मन्त्र में पठित **कक्षीवन्तं य औषिजः**, शब्दों को देख कर उषिक-पुत्र कक्षीवान् का एक बहुत बड़ा इतिहास जोड़ दिया है, जब कि इसका अर्थ यौगिक प्रक्रियानुसार उद्योगीजितेन्द्रिय और सत्कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इसी प्रकार ऐतिहासिकों के ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २४ वें सूक्त से ३० वें सूक्त तक के मन्त्रों से वरुण-पाश बद्ध शुनः शेष का इतिहास निकाला है। जब कि इन सूक्तान्तर्गत मन्त्रों का देवता प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण, इन्द्र, विश्वदेव, इन्द्र, यज्ञ, सोम, अश्विनों और ऊषा आदि हैं। ऋषि शुनः शेप आजिगर्ति है। शुनः शेष अर्थात् सुखाभिलाषी आत्मा जो अपने आपको त्रिविध-अधम, मध्यम और उत्तम-वरुण-पोशी के

बन्धनों से मुक्त हुआ देखना चाहता है। बारम्बार वरुण-वरणीय भगवान् से प्रार्थना कर रहा है। जोकि सामान्य रूपेण प्रत्येक प्राणी बन्धनावस्था में किया करता है, बस यही भाव इन सूक्तों का है, अन्य कोई कल्पिताशय नहीं निकाला जा सकता। अतः संक्षेप से यही कथन करना है कि मंत्रार्थ से पूर्व मन्त्र के देवता-प्रतिपाद्यविषय का भी ज्ञान अत्यावश्यक है। इस प्रसंग में प्रकरण का ज्ञान भी अत्यावश्यक प्रतीत होता है। 'सैन्धव' शब्द के उदाहरण को न भूलना चाहिए। दुःख की बात है कि पश्चिमीय विद्वान् प्रकरण का भी ध्यान नहीं करते। प्रकरणानभिज्ञता के कारण ही **युज्यन्ति ब्रध्नमरुषं०** यजु० २३।५) में इन तथाकथित भाष्यकारों ने—ब्रध्न शब्द का अर्थ घोड़ा और और सूर्य किया है, जोकि सर्वथा प्रकरण प्रतिकूल है। वेदों में अश्लीलता नहीं, परन्तु इन अश्लील भाष्यकारों ने अपनी अश्लील मनोवृत्ति का **गणानांत्वा-गणपतिम्०** यजु० २३।१९-३१) आदि मन्त्रार्थ करते हुए परिचय दिया है। जोकि सवर्था अशोभनीय है। वेद अपने भाव को स्वयं प्रकट करता है—अब देखिये वेद स्वयं अपने आशय को किस प्रकार प्रकाशित करता है। अथर्ववेद—**कृष्णाया पुत्रो-अर्जुनः**—१३-३-२६) अर्थात् कृष्णा का पुत्र अर्जुन क्या ऐतिहासिक किसी प्रमाण से यह सिद्ध कर सकता है कि अर्जुन कृष्णा-द्रोपदी का पुत्र था? नहीं, तो क्या वेद का कथन अशुद्ध है? नहीं, ऐसी स्थिति में वेद स्वयं अपने अगले चरण द्वारा (**राज्या वत्सोजायत**) प्रकट कर रहा है कि कृष्णा-रात्रि है, उसका वत्स-पुत्र अर्जुन-चन्द्रमा है, जो उदित होकर अपनी जननी को आल्हादित करता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद अ० १३ मं० ५४-५८ तक वसिष्ठ, भारद्वाज, जमदग्नि विश्वामित्र और विश्वकर्मा ऋषियों का उल्लेख है। इन नामों से कोई वेदानभिज्ञ व्यक्ति किन्हीं व्यक्ति विशेष लोक-प्रसिद्ध ऋषियों के नाम ही न समझ ले, अतः वेद ने स्वयं इस भ्रम को दूर करने के लिए साथ ही स्पष्ट कर दिया कि वसिष्ठ शब्द प्राणवाचक है, भारद्वाज नाम मनः सूचक है, जमदग्नि नाम चक्षुर्वाचक है, विश्वामित्र नाम श्रोत्रवाचक है और विश्वाकर्मा नाम वाक् का है। अतः वेदपठित वशिष्ठ, विश्वामित्र नाम किसी व्यक्ति विशेष की संज्ञा नहीं। अपितु वैदिक वाङ्मय में यह सब नाम प्राणवाचक और विशेषार्थ

बोधक हैं। और देखिए अथर्वेद का० ४ सू० ३९ में भी एक भारी भ्रम को वेद स्वयं मिटा रहा है :—

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्नि र्वत्सः ।

अन्तरिक्ष धेनुस्तस्या वायुवर्त्सः ।

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः ।

दिशोधेनवस्तासां चन्द्रोवत्सः ।।

पुनः अथर्ववेद का० १८ सू० ४ मं० ३२ में कहा :—

धानाधेनुरभवद् वस्तोऽस्यास्तिलोऽभवत् ।

इत्यादि ऋचाओं से स्पष्ट है कि यज्ञादि श्रेष्ठतम कर्मों में धेनु-गाय सर्वथा अवध्या है, जहाँ ऐसा विधान हो कि धेनु से यज्ञ करना चाहिए वहाँ धेनु से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और दिशा आदि के विशेषार्थों का ही ग्रहण करना चाहिए। अस्तु।

अब जो पूर्व

सम्बन्ध वाचक ऋषियों के नामों का उल्लेख किया था, उसका आशय अतिशयार्थ में ही लेना चाहिए। जैसे, मेधातिथिः काण्वः, एक नाम है जो निन्तर मेधा-बुद्धि की ओर गति करता है, वही मेधातिथि है मेधातिथि वही हो सकता है जो कण्व की सन्तान वनोकण्व भी कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं, अपितु निरुक्तानुसार—कण्व इति मेधावी नामसुपठितम्—मेधावी का नाम है। जो अत्यधिक मेधावी हो वही काण्व है, जैसे लोक में 'मूर्ख' को गधा कहा जाता है। परन्तु जब वह और भी अधिक मूर्खता का काम करे तो अतिशयार्थ को जतलाने के लिए 'गधे का बच्चा' कहा जाता है। बस यही आशय अतिशयार्थ की अभिव्यक्ति के लिए तत्तद्विषयक एवं विद्या-विज्ञान बोधक शब्दों का प्रयोग प्रायः वेदों में मिलता है। इससे व्यक्ति विशेषों का पारस्परिक सम्बन्ध समझना भारी भूल है।

एक प्रश्न और उसका उत्तर

जब ऐसा ही है तब वेदों में लोकप्रिय संज्ञाएँ क्यों मिलती हैं ? क्या ऐसा न मान लिया जावे कि वेदों में यह व्यक्ति विशेषों के नाम उनके जन्म के पश्चात् अंकित किए गए हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ का है, उस समय के लोगों को किसी प्रकार का धर्म-कर्म विषयक ज्ञान न था, वह परस्पर के व्यवहार को भी न जानते थे, परमकारुणिक भगवान ने ही वेद द्वारा सब का पथप्रदर्शन किया, व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया और नामकरण की विधि सिखाई । जैसा कि मनु जी ने लिखा है :—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।

अत: यह निश्चित मत समझना चाहिए कि हमारे पूर्वजों को परम गुरु सर्वविद्या निधान भगवान् की पवित्र वेद-वाणी द्वारा ही गुण-कर्मानुसार प्रत्येक वस्तु के नामकरण की प्रेरणा प्राप्त हुई । अधुनिक काल में भी जैसे हमारे पूर्वज अपने पूर्वजों के नामानुसार अपने व अपनी संतान के नामकरण करते हैं । ऐसे ही भविष्य में भी नामकरण करते रहेंगे, परन्तु प्रश्न तो सर्गारंभ का है, उस समय सिवाय वेद के कौन इस विधि का विधान करता । अत: सिद्ध है कि आरंभ में वेद के शब्दों को ही देखकर दृश्यमान जगत की सब वस्तु जात के नाम रक्खे गए । यदि लोक प्रसिद्ध नामों को ही वेद से पूर्व माना जाय तो प्रथम-प्रथम नाम रखने की विधि किसने सिखाई ? यह प्रश्न राबार उठता रहेगा । और साथ ही यह भी सिद्ध करना होगा कि वेद-पठित 'सीता' शब्द से जानकी, गौतम शब्द से अहिल्या पति गौतम, राम शब्द से सीता-पति राम, विश्वामित्र शब्द से राम के गुरु विश्वामित्र अत्रि शब्द से अनुसूया पति अत्रि, अर्जुन शब्द से पाण्डुनन्दन अर्जुन, अयोध्या शब्द से रामायणकालीन अयोध्या नगरी आदि के इतिहास कैसे निकाल लिए गए ? क्या जिस मंत्र में सीता शब्द है वहाँ राम अथवा मिथिलेश का उल्लेख है ? जहाँ राम शब्द है, क्या वहाँ सीता अथवा अयोध्या का उल्लेख है ? जहाँ अहिल्या शब्द है, क्या वहाँ गौतम शब्द है ? नहीं जब यह सम्बन्ध वाचक नाम और स्थान मन्त्र-पठित शब्दों के आस-पास तो क्या कहीं दूर भी नहीं मिल रहे तो फिर इनसे इतिहास की कल्पना करना कहाँ तक उचित व युक्तियुक्त है ? यह एक चिन्तनीय विषय है ।

अब उन शब्दों को लीजिए जिनके आधार पर ऐतिहासिक जन भ्रम-चक्र

में फंस कर एवं सत्यार्थ को न जानकर व्यर्थ में इतिहास की कल्पना कर अपने काल व अर्थ का नाश कर रहे हैं।

वैदिक शब्दों का अर्थ वैदिक कोषानुसार

अत्रिः—(ऋ० ५-३७-१०) वागेवात्रिः—श०-१४-५-२-६ । वाणी का नाम अत्रि है, त्रिविधि ताप शून्य व्यक्ति भी अत्रि है। अनुसूया-पति का यहाँ उल्लेख नहीं ।

अगस्त्यः—(ऋ० ७-३७।१०) अस्तदोषः—आचार्य दयानन्दः निर्दोष व्यक्ति का नाम अगस्त्य है, अगस्त्य एक नक्षत्र भी है, यथा—उदय अगस्त पन्थ जल सूखा—गोस्वामी तुलसी ।

कण्वः—(ऋ० १-३६-१०) कण्व इति मेधावी नाम । वि० ३।१३ । मेधावी पुरुष का नाम कण्व है। शकुन्तला के अभिभावक कण्व का उल्लेख नहीं।

वसिष्ठः—(ऋ० २।६।१) प्राणो वा वसिष्ठ ऋषिः—श० ८-१-१-६ । प्राण ही वसिष्ठ है, सर्व श्रेष्ठ इति सायणः । सर्व श्रेष्ठ पुरुष भी वसिष्ठ है। यहाँ रघुकुल के गुरु वसिष्ठ का उल्लेख नहीं।

विश्वामित्रः—(ऋ० ३-५-३) विश्मामित्रः सर्वमित्रः—नि० २।१४) श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः । श० ८-१-१-६ श्रोत्र का नाम विश्वामित्र है। अजातशत्रु व्यक्ति भी विश्वामित्र कहलाता है। राम के गुरु का उल्लेख नहीं।

जमदग्निः—(य० १३।५६) चक्षुर्वैजमदग्निः । श० ८-१-२-६ आँख का नाम जमदग्नि है।

पराशरः—(ऋ० ७।१८।२१) इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते—परा शातयिता यातनाम् नि० ६।६) इन्द्र पाराशर कहलाता है, जो शत्रुओं को दूर हटाता है।

उर्वशीः—(य०।५।२) उरुर्वोवशोऽस्याः नि० ६।१३) देदीप्यमान अग्नि का नाम उर्वशी है। कोई देवलोक की अप्सरा नहीं ।

मेनका—(य० १५।१६। मेना वाङ् नाम० नि० १।११) वाणी का नाम मेनका है। शकुन्तला की माता नहीं।

सीता—(य० १२।७०) वीजाय वा एषा योनिनिष्क्रीयते यत्सीता। वीज बोने के लिए हल द्वारा जो गहरी रेखा भूमि में खोदी जाती है, वही सीता है। जनक नन्दिनी सीता का यहां उल्लेख नहीं।

कृष्णा—(ऋ० १।११३।२) कृष्णा वर्णा रात्रि:—नि० २।२०) अन्धेरी रात्रि का नाम कृष्णा है, द्रौपदी का नाम नहीं।

अयोध्या—(अ० १०।१।३१। देवों-इन्द्रियों की नगरी शरीर है, सरयू नदी के तट पर बसी नगरी अयोध्या नहीं।

कालका—(य० २४।३५) पक्षी विशेष :—आचार्य दयानन्दः।

वेन: (य० ७।१६) कमनीयश्चन्द्रः कमनीयः—आचार्य दयानन्दः)। वेनी मेधावी नाम—नि० ३।१५) यज्ञ नाम—नि० ३।१७। असावादित्योवेनः—श० ७।२।१।१४ आत्मा वै वेनः—कौ० ८।५। चन्द्र, मेधावी, यज्ञ, आदित्य और आत्मा का नाम वेनि है। किसी अत्याचारी राजा वेन का उल्लेख नहीं।

अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका—(य० २३।१८) यह यजु० ३।६०) के अनुसार औषधियों के नाम हैं। आचार्य दयानन्द के मतानुसार माता, दादी, परदादी का भी अर्थ है।

महाभारतीय काशीराज की पुत्रियों का यहाँ उल्लेख नहीं।

नहुष—(ऋ० १।१२२।८) मनुष्य नाम सुपठितम्—नि० २।३।

परीक्षित: (अ० २०।१२७।७) सम्वत्सरो वै परीक्षितः अग्निर्वैपरीक्षित—गो० २।६।१२।

नाभानेदिष्ठ: (ऋ० १०।६१।१२। रेतो वै नाभानेदिष्ठः) ऐ०६।२७।

महावीर: (य० १६।१४) महाकर्षण प्रकाशदिनायुक्तः सूर्यलोकः। महांश्चासौ-वीरः स। आचार्य दयानन्दः।

इत्यादि अनेक शब्द हैं जिनके सत्यार्थ एवं विशेषार्थ को न जानकर ऐतिहासिकों ने व्यर्थ में इतिहास निकालने का प्रयास किया है। हमने ऊपर कुछेक वैदिक शब्दों का जो लोक में भी प्रसिद्धि रखते हैं, वैदिक कोषानुसार

आशय प्रदर्शित किया है। यह केवल दिग्दर्शन मात्र है। वेदों में कहीं पर भी इन शब्दों से किसी ऐतिहासिक नाम, जाति व देश विशेष की कल्पना का आधार नहीं मिलता। पूर्वोक्त शब्द प्रकरणानुसार जिस-जिस अर्थ के प्रकाशक हो सकते हैं। वह अर्थ संक्षेप से सर्वसाधारण के ज्ञान के लिए यहाँ लिख दिए हैं। अतः ऐतिहासिकों को दुराग्रह त्याग कर वेद के साथ न्याय करना चाहिए। क्योंकि वैदिक कोषों के होते हुए उनकी कल्पनाएँ निर्मूल हैं। इस विवेचन से सिद्ध है कि चारों वेदों में किसी व्यक्ति, जाति, देश-विशेष से सम्बन्ध रखने वाला कोई लौकिक अनित्य इतिहास नहीं है। हाँ, नित्य अर्थात् प्रवाहरूपेण अनादि सृष्टि सम्बन्धी विवरण बीज रूप से वेदों में है।

पुरुषार्थ करो !

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिए, अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके, उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

- जो ईश्वर के भरोसे आलसी बन कर बैठे रहते हैं वे महा मूर्ख हैं। क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उस को जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी नहीं पावेगा।
- जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरी भी करता है वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है।
- जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं, वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।

स्वाध्याय

रमाकांत

संसार के पहले कहानीकार ने
एक कहानी लिखी,
अनचीन्ही लिपि,
अनचीन्हे वाक्य,
अनचीन्हे विराम,
अनचीन्हे भाव,
फिर भी,
वह रचना दिव्य थी
उसमें भव्यता झाँकती थी,
अनुपम राज-सज्जा,
मंगलमय चित्रकारी,
उद्बोधक दिशा में,
मार्ग-दर्शन,
जीवन-दर्शन
नया सन्देश
नया उत्साह
नई रीति
और फिर
मधुर प्रीति का आलोक,
एकदम अभिजात !
किन्तु,
रचना अछूती ही रही,
स्वाध्याय निमित्त,
किसी का आविर्भाव न हुआ,
अब संसार के पहले कहानी-
कार ने,
पाठक की रचना की,
यह पाठक था,
एक महान आश्चर्य
एक विचित्र कृति मानव !
वह अध्ययन करने लगा,
उसने,
तरु को फलों से लदते देखा,
लदकर झुकते देखा,
कल-कल निनादिनी सरिता देखी
और उसने देखा,
तरु ने फल दूसरों को बाँट दिए,
सरिता ने दूसरों की तृषा
शाँत कर दी,
उसने परोपकार सीखा,
फिर और भी अध्ययन किया,
एक दिन,
उसने स्वाध्याय की ठान ली,
उसे स्वयं में दोष दीखे,
वह सचेत हो गया,
गुणों की गरिमा,
उसके लिए सब कुछ होगई,
और वह स्वाध्याय में जुट गया,
संसार के पहले कहानीकार का,
ऋणी हो गया
और तभी से
पावन वेद के
'असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय," का
गायक हो गया !

जीवात्मा

★

स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती
(संसद् सदस्य, आचार्य, गुरुकुल घरौंडा, करनाल)

"जीवात्मा" क्या है? कैसा है? यह जानने के लिए हम यत्नशील रहते हैं किन्तु उसे जान नहीं पाते। प्रस्तुत लेख में इसी विषय को सरल प्रकार से हृदयंगम कराने का प्रयास विद्वान् लेखक ने किया है।

"दार्शनिक दृष्टि से जगत् को जड़-चेतन भाव से दो भागों में बांटा जाता है और यह इसका सूक्ष्म वर्णन है। विस्तार से तो जड़ जगत् ७२० तत्त्वों का समुदाय कहा जा सकता है और कार्यरूप से जगत् के अनन्त भेद हैं किन्तु कारण रूप से चेतन शक्ति के दो भेद वर्णन किए जाते हैं—एक ईश्वर, दूसरा जीव। परन्तु जीवों की संख्या अनन्त है और ईश्वर एक है। जीव की सत्ता पर विचार करते समय षड्दर्शनों ने विभिन्न युक्तियाँ दी हैं, किन्तु जीव के चेतनत्व को सबने समान रूप से स्वीकार किया है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा की सत्ता में एक सूत्र दिया है। इस लेख में उस पर ही विचार करना पर्याप्त होगा।

सूत्रम्— प्राणाऽपाननिमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुख-दुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ वै० अ० ३ आ० २ सूत्र० ४।

(प्राण) बाहर से वायु को भीतर लेना, (अपान) भीतर से वायु को निकालना, (निमेष) आंख को नीचे ढांकना, (उन्मेष) आँख को ऊपर उठाना (जीवन) प्राण का धारण करना, (मनः) मनन विचार अर्थात् ज्ञान (गति), यथेष्ट गमन करना, (इन्द्रिय) इन्द्रियों को विषय में चलाना। उनसे विषयों का ग्रहण करना, (अन्तर्विकार) क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब आत्मा के लिंग अर्थात् कर्म और गुण हैं।

प्राणाऽपान

शरीर प्रवृत्ति का कार्य जड़ है। इस जड़ शरीर में पांच प्राण और पांच उप-प्राणों का संचार एक दूसरे के विपरीत होता है। यद्यपि वायु का तृयग् गमन स्वभाव है, किन्तु इसके विपरीत मुख व नासिका से ऊर्ध्व व अधोगमन होता है, जैसे—डोल और मूसल स्वभावतः स्थिर होते हुए भी ऊपर-नीचे आते जाते देखे जाते हैं इससे डोल और मूसल का संचालक निश्चित है, एवं शरीर में प्राण अपानादि का ऊर्ध्वाधोगमन व तृयग गमन से उनका भी संचालक निश्चित है।

निमेष-उन्मेष

नेत्र जड़ हैं। उनका क्षण-क्षण में खुलना और बन्द होना एवं अकस्मात नेत्रों का रक्तवर्ण तथा कभी-कभी अश्रुधारा का प्रवाह आदि होता है। जैसे काठ की कठपुतली नृत्य करती है एवं नेत्रों के नर्तन से यह सिद्ध है कि इनका नायक कोई इनसे पृथक् है। यदि नेत्र स्वयं नृत्य करते तो मृत्यु के पश्चात् भी नेत्र क्रिया होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। क्योंकि यह दार्शनिक युक्ति है। कि—"यत् सत्त्वे यत् सत्त्वम् यदभावे यदभावम्"। अर्थात् जिसके होने से जो हो और न होने से न हो वह क्रिया उसकी ही मानी जाती है। अस्तु; उक्त क्रिया सजीव देह में होती है, अतः इसका स्वामी जीव है।

जीवन

शरीर में जब तक जीवन रहता है, तब तक रक्त संचार एवं मांस-रस आदि का निर्माण, मल-मूत्र-नखादि का उत्पादन एव निःसरण तथा शरीर की विचित्र अभिव्यक्ति प्रतीत होती है अतः जीव के निवास करने मात्र से ही

जीवन होता है। और जब जीव इस भौतिक शरीर को त्याग देता है, तब जैसे रात्रि विविध सौन्दर्य सम्पन्न संसार को सूर्य अस्त होने पर भयावह बना देती है वैसे मृत्यु सुन्दर शरीर को भयावह तथा वीभत्स बना देती है। इस आशय का ऋग्वेद में बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

"तत्सूर्यस्य देवत्वं······वासस्तनुते सिमस्मै" ऋ०म० १अ० १६सू०११५।

अर्थात् विविध प्राणियों के स्वर कार्य में संलग्न होने पर भी सूर्य अपने रश्मि जाल को वनोपवन, नदी, सरोवर, सागर, सरितादि भू-भाग से इकट्ठा करके ले जाता है और सब देखते रह जाते हैं। संसार की सुन्दर से सुन्दर वस्तुएँ तब भयानक प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार जीवात्मा माता-पिता-बन्धु भार्या-पुत्रादि के होते हुए भी अपनी जीवन-लीला को लपेट लेता है और सब रोते रह जाते हैं। तब मृत्यु रूपी रात्रि अपने काले कपड़े बिछा देती है। और यह शरीर जो सुन्दर एवं प्रिय प्रतीत होता था अब भयानक एवं अस्पृश्य होता है। इससे सिद्ध है कि जीवनलीला का कर्त्ता जीव अलग है।

मनः

जैसे बालक गृह के एक कोने में बैठकर कन्दुक (गेन्द) को अपनी इच्छा से फेंकता है और गेन्द बालक के संकेतमात्र से कूदती फिरती है एवं आत्मा मन को शरीर के नाना प्रदेशों में प्रवृत्त है। कभी खुजलाता है, कभी देखता है, कभी सूंघता है, कभी चीख मारता है, कभी गाता है कभी नाचता है, इत्यादि क्रिया जिसके द्वारा होती है, वह आत्मा है।

गति

हस्त पादादि के द्वारा नाना प्रकार का गमन।

इन्द्रिय

इन्द्रियों का स्व स्व विषयों में संचालन।

अन्तरविकार

क्षुधा-तृषा, रुचि-अरुचि, जीर्ण-अजीर्णादि अन्तर विकारों का ज्ञाता जीव है।

सुख

भौतिकाभौतिक आनन्द।

दुःख

प्रतिकूल पीड़ा, दाह, ज्वरादि रोग।

इच्छा

नाना विषय देश-देशान्तरादि की अभिलाषा तथा इन्द्रियों को तत्तत् विषयों में प्रेरक। हिक्का, छिक्का, जम्भाई, मुस्कान, सकेत, मल-मूत्रादि सप्त धातुओं का विसर्जन निर्माणादि। विषयों के प्रति जो कर्तव्याकर्तव्य विमूढ़ होकर प्रवृत्त होता है, वह जीव है। यदि शरीर से भिन्न जीव न हो तो उक्त क्रिया एवं भावादि मृत्यु के पश्चात् भी होने चाहिए।

द्वेष

अनुकूलों से प्रीति प्रतिकूलों से द्वेष एवं उदासीन भाव का कर्त्ता जीव है।

प्रयत्न

शरीर के अन्दर एवं बाहर परिश्रम करना। गृह, प्रसाद एवं वनोपवन आदि का निर्माण तथा नाना प्रकार के शिल्प का रचयिता जीवन है।

प्रकृति से लेकर ईश्वर पर्यन्त, परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त का ज्ञाता जीव है। यदि जीव न हो तो मैं दुःखी-सुखी, ज्ञानी-अज्ञानी अपने पराए का ज्ञान एवं उक्त क्रिया-कलाप निर्जीव देह में नहीं हो सकते। जैसे गृहपति अपने लघुतम गृह को ईंट आदि लगाकर बड़ा बनाता है तथा टूटे-फूटे की मुरम्मत करता है, एवं जीवात्मा अपने शिशु शरीर को अन्न, रसादि के द्वारा बड़ा बनाता है और क्षतादि की औषधियों से मुरम्मत करता है। जीवित प्राणी किंचित् अधिक उष्णता पर ही चिल्लाता है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण शरीर को भी अग्नि के ऊपर रख देने से कुछ नहीं कहता। जब शरीर के किसी देश में पीड़ा होती है तो उस अंग पर हाथ रखकर बताता है कि यहाँ पीड़ा है और स्वयं औषध पान कर उस रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है और यदि रोग स्वयं के उपचार से दूर न हो तो वैद्यादि के पास जाकर उस रोग का वर्णन करता है और गम्भीर अवस्था होने पर वैद्य से दीन-हीन होकर रोग को दूर करने की प्रार्थना करता है। क्या कोई ऐसी और भी जड़ मशीन है जो अपने रोग का स्वयं उपचार करे और स्वयं से न हो तो किसी शिल्पकार के पास

जाकर ठीक होने की प्रार्थना करे ? शरीर की मन्द-शीघ्र गति, ऊँचा-नीचा कूदना, दौड़, हाथ-पैर व सिर के बाल खड़े रहना, लम्बा लेटना, खड़ा होना और कई प्रकार के रहस्यमय जीवन का संचालन एवं धारण, जीवात्मा के अतिरिक्त जड़ शरीर नहीं कर सकता। इन्द्रिय आदि के द्वारा ज्ञान करना, जाने हुए को स्मरण रखना, समय पर विस्मृत होने का भी पुनः ज्ञान कर लेना। जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि आदि का भान तथा चिर-परिचित वस्तु की पहिचान और तत्तत् व्रत का भान चेतन आत्मा को ही होता है यदि पृथक् आत्मा न हो तो जड़ शरीर को मृत्यु के पश्चात् भी ये सब ज्ञान होने चाहिएँ। कोई जड़ मशीन ऐसी नहीं है जिसको चेतन के बिना उक्त ज्ञान व कर्म करने का सामर्थ्य हो।

जीवात्मा, परमाणु परिमाण—नित्य, चेतन, अनादि, अनन्त और सञ्चित गुण वाला है। वेदों में जीवात्मा के चेतनत्व का अनेक स्थलों पर वर्णन है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के भागों को उद्धृत किया जाता है—

"होता जनिष्ट चेतनः" ऋ० २।५।१

अर्थात् ग्रहण कर्त्ता जीव उत्पन्न व निर्माण करे।

"इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगती चेतनः" ऋ० ३।१२।२२

अर्थात् हे विद्यादि ऐश्वर्य युक्त पुरुषो आप दोनों को सम्यक् ज्ञाता पूज्यादि गुणयुक्त प्राप्त होता है।

"इन्दुः यविष्टः चेतनः प्रियः कवीनां मती" ऋ० ६।६ ।१

अर्थात् परमैश्वर्य शाली चेतन ज्ञाता क्रान्तादर्शीज्ञानियों का प्रियतम विषय बुद्धि से पवित्र करता है।

इत्यादि अनेक मन्त्रों से जीव को चेतन कथन किया है।

वेद-वाणी

★ ★

जयति जय जय वेद वाणी।
मधुर मङ्गल कारिणो जन-तारिणो शुचि प्रणव-वाणी ।।१।
ज्ञान-पुञ्ज प्रदीपिका सीलोक में आलोक फैलाती।
पथ-प्रदर्शन की पताका, मुक्ति से मनु को मिलाती ।।
युग युगों से कर रहे हैं।
ऋषिमुनीश्वर आगवानी ।।२।।
सृष्टि के सिद्धान्त की गुरु ग्रन्थियाँ जो खोलती है।
त्रित्त्व के पञ्चम स्वरों में कोकिला सी बोलती है।।
पान करते हैं रसायन।
प्रेम से प्रिय प्राण प्राणी ।।३।।
ज्ञान या विज्ञान को जो आदि उद्गम नायिका है।
मानसिक सङ्कल्प रथ की शालिनी सञ्चालिका है।।
विश्व विजयनि वैजयन्ती।
ला रही है विश्व रानी ।।४।।
विश्व भाषाएँ कि जिसको जननि अपनी जानती हैं।
विविध धर्म प्रणालियाँ जिनको सनातन मानती हैं।।
ऋषि चतुष्टयक हृदय में।
उदित किरणें जो पुराणी ।।५।।
आज उस ही भारती की आरती आओ उतारें।
आर्योदय हो जगत अङ्क व्रत स्वाध्याय धारें।।
फैल जावे धारणा ।
श्रुति, यह धराञ्चल को धुराणी ।।६।।

"प्रणव" शास्त्री एम० ए०

सुख का मूल कारण

वैदिक आश्रम व्यवस्था

आचार्य भगवान्देव जी
गुरुकुल झज्जर

आर्य समाज द्वारा प्रसारित समाज व्यवस्था में आश्रम प्रणाली आधार-शिला है। यदि इसकी ओर ध्यान न दिया जाय तो हमारी कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। जीवन की सफलता कहाँ और कैसे का उत्तर वैदिक आश्रम व्यवस्था द्वारा ही दिया जा सकता है।

आर्य संस्कृति की जहाँ अनेक विशेषतायें हैं, उनमें आश्रम-व्यवस्था का आविष्कार सर्वोत्तम विशेषता है। मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य धर्मार्थ काम मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है। इसकी प्राप्ति के लिये हमारे दूरदर्शी ऋषि-मुनियों ने मनुष्य जीवन को चार भागों में विभाजित किया जिससे शरीर की वृद्धि तथा ह्रास के साथ-साथ लक्ष्य की प्राप्ति भी सरलता से हो सके।

यह एक स्वाभाविक नियम है कि प्रकृति के अनुकूल चलने से सुख तथा प्रतिकूल चलने से दुःख मिलता है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था प्रकृति के अनुकूल

है। शरीर में सदा परिवर्तन होता रहता है। प्रारम्भ में २५ वर्ष तक वृद्धि तथा इन्द्रियाँ उन्नति करती हैं। मन, बुद्धि तथा आत्मा जानने की इच्छुक रहती हैं अतः यह काल शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक शक्तियों के संचय का है। अतः इस आयु में ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की। तत्पश्चात ५० वर्ष की आयु तक शरीरादि में दृढ़ता आती है। मानव इस अवस्था में सुख चाहता है, सुख भोगने के लिये गृहस्थाश्रम बनाया। किन्तु सुख भोगते समय संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये गृहस्थी के लिये अनेक सामाजिक बन्धन बनाये गये। जिससे वह अपने लक्ष्य को ही न भूल जाये। तत्पश्चात् शरीर में शिथिलता आ जाती है, इन्द्रियाँ भी अपना कार्य यथावत नहीं कर सकतीं, अतः शक्ति-संचय की आवश्यकता होती है, अतः वान-प्रस्थाश्रम बनाया जिससे वह वन में जाकर शान्ति से शक्ति संग्रह करता हुआ विद्या-दान भी करता रहे। तत्पश्चात् शरीर में इन्द्रियाँ और शिथिल हो जाती हैं, और मनुष्य संसार के भोगों से विरक्त हो जाता है, इसलिये संन्यास-आश्रम बनाया। इन चारों आश्रमों को हम क्रमशः—उन्नति परिपक्वता, वात्सल्य और वैराग्य भी कह सकते हैं।

सर्व प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम होता है। हमारा प्राचीन सम्पूर्ण इतिहास इस बात को बताता है कि प्राचीन समय में इस आश्रम का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। यह राजकीय नियम होता था कि कम से कम २५ वर्ष तक प्रत्येक को इस आश्रम का पालन करना अनिवार्य होता था क्योंकि ब्रह्मचर्य सब आश्रमों की मूलभित्ति होता है। जिस मकान की नींव दृढ़ होती है, वह ही चिरस्थायी होता है। यही कारण था कि प्राचीन समय में मानव जीवन की औसत आयु सौ वर्ष तक होती थी जोकि आज केवल बाईस वर्ष ही रह गई है। ब्रह्मचर्यानुष्ठान पूर्वक ही गृहस्थादि तीनों आश्रम सुखपूर्वक रहते हैं। अन्यथा मूल के न होने से शाखा, फूल, फलादि कहाँ से आयेगी। महर्षि दयानन्द ने इस आश्रम के लिये अत्यधिक बल दिया है। वे भाष्यभूमिका में लिखते हैं कि—

"विना ब्रह्मचर्येण कस्यापि नैव विद्या सुखञ्च यथावत् भवति। अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठान पूर्वका एव गृहस्थाश्रमादयस्त्रम आश्रमाः सुखमेधन्ते।"

वेदादि शास्त्रों में तो ब्रह्मचर्य की महिमा के अनेक स्थलों पर गीत गाये हैं। वैदिक संस्कृति की विचारधारा में जितना ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है उतना अन्य किसी भी संस्कृति में नहीं दिया गया है।

ब्रह्मचर्य शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है जिसका संसार की किसी भी भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता। ब्रह्म का अर्थ है परमात्मा, उसमें विचरण करना ब्रह्मचर्य कहाता है। ब्रह्म का अर्थ है वेद, उसका अध्ययन करना, ब्रह्म का अर्थ है वीर्य, उसकी प्राप्ति तथा रक्षा का प्रतिक्षण ध्यान रखना। इसके लिये संयम की परमावश्यकता है। संयम के बिना ब्रह्मचर्य का पालन करना असम्भव है।

वेद में ब्रह्मचर्य की महिमा वताते हुए कहा—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमाघ्नत। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति।"

अर्थात् ब्रह्मचर्य पालन से मनुष्य मृत्यु पर भी कावू पा लेता है। और इसकी साधना के लिये चार उपाय हैं १—(समिधा) अपने मन में नये-नये ज्ञान-विज्ञान सीखते रहने की इच्छा रूप अग्नि को सदा जलाये रखना। २—(मेखलया) उसमें कटिबद्धता की, तत्परता की, चौकन्नेपन की, जागरूकता की वृत्ति सदा रहनी चाहिये। आलस्यादि को कभी भी अपने पास न आने दें। ३—(श्रमेण) ब्रह्मचारी को प्रतिदिन व्यायाम करना चाहिये क्योंकि बिना व्यायाम के शरीर बलवान् और सयमी नहीं बन सकता। ४—(तपसा) ब्रह्मचारी को तपस्वी होना चाहिये, बिना कष्ट साहिष्णु बने, और सादा जीवन के श्रृंगार की प्रवृत्ति से नहीं बच सकता और श्रृंगार मनुष्य को विषयों की तरफ फेंक देता है।

इस प्रकार इस आश्रम में सब प्रकार से उन्नति का समय होता है। किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं होती और विद्या के प्रकाश का ब्रह्मचारी पुँज हो जाता है। जिसे देखकर शास्त्रों में लिखा है कि राजा को भी मार्ग छोड़ देना चाहिये।

दूसरा आश्रम है—गृहस्थाश्रम। मनुजी महाराज गृहस्थाश्रम का कौन अधिकारी है, कौन नहीं लिखते हैं—

"वेदानधीत्य वेदों व वेदं वापि यथाक्रमम्।"
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

अर्थात् इस आश्रम में पूर्ण विद्वान और अखण्डित ब्रह्मचारी का ही प्रवेश करने का अधिकार है। इस कम से कम २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करके ही प्रवेश करे। क्योंकि बिना ब्रह्मचर्य के यह आश्रम नरक का द्वार होता है। इस आश्रम की अनेक जिम्मेदारी हैं, उनका पालन करना प्रत्येक के वश की बात नहीं है। इसीलिये इस आश्रम को सबसे बड़ा और वायु की तरह उपयोगी बताया है। स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि—

जो गृहस्थी ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी होता है। प्रत्येक गृहस्थी का परम कर्त्तव्य होता है कि नित्य पंच महायज्ञों का अनुष्ठान करे, उत्तम गुणों का प्रचार करे, और अपनी सन्तान को सुशिक्षादि से सुशिक्षित करे।

तीसरा आश्रम है—वानप्रस्थाश्रम। इस आश्रम की साधारण आयु ५० वर्ष के बाद होती है। इसके बारे में मनुजी महाराज लिखते हैं कि—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपक्तितमात्मम: ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

अर्थात् जब शिरादि के बाल श्वेत हो जायें, त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब गृहस्थ वन में जाकर बसे। और कन्द-मूल खाकर पंच महायज्ञों को करता रहे।

मनुजी महाराज ने वानप्रस्थी के कर्त्तव्य इस प्रकार बताये हैं—"नित्य स्वाध्याय करना, जितेन्द्रिय, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देने वाला, सब पर दयालु, शरीर को सुख देने में प्रयत्न न करने वाला, भूमि पर सोने वाला, मोहादि से अलग रहे।"

चौथा आश्रम संन्यास है। इसका सामान्य समय ७५ वर्ष के बाद है। मनुजी ने लिखा है कि—

"चतुर्थमायुषो भागम् त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्।"

अर्थात् आयु के चतुर्थ भाग में सांसारिक संगों को छोड़कर संन्यासी हो जाये। संन्यासाश्रम के लिये शास्त्रकारों के विभिन्न मत हैं किन्तु पूर्ण वैराग्य-वान् होने पर ही संन्यासाश्रम की दीक्षा ले लेनी चाहिये, चाहे किसी भी आश्रम में हो, इसमें किसी का विभिन्न मत नहीं है।

संन्यासाश्रम की आवश्यकता बताते हुये स्वामी दयानन्द जी ने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि—"जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि इसके बिना विद्या, धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्या ग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़ कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है।

संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों का उपकार करता हुआ मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाये। दश लक्षणों वाले धर्म का सदा पालन करे। वेदोक्त धर्म का प्रचार करता हुआ गृहस्थादि आश्रमवासियों को सत्य का निश्चय कराकर धर्मादि शुभ कार्यों में प्रवृत्त रक्खे। यही संन्यासी का परमधर्म है।

हमारी आधुनिक समाज की व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई है। सारा देश दो भागों में हो गया है। गरीब और अमीर। एक ओर वे लोग हैं जो आकाश से चूमने वाले राजमहलों में निवास करते हैं। थोड़ी दूर भी पैदल यात्रा नहीं कर सकते हैं, सदा मोटरादि सवारियों में ही मौज उड़ाते हैं। पहनने के लिये उत्तम से उत्तम वस्त्र पहनते हैं। भोजन के लिये एक से एक बढ़कर खाद्य पदार्थ विद्यमान हैं। शिक्षा के लिये भी पर्याप्त व्यय कर सकते हैं। दूसरे वे लोग हैं जिन्हें तन छिपाने के लिये फूंस की झोंपड़ी भी नहीं मिलती है। पहनने को वस्त्र नहीं मिलते, खाने के लिये भोजन भी पर्याप्त नहीं मिलता, कभी-कभी तो उपवास ही करना पड़ता है। फिर शिक्षादि के व्यय की तो बात ही दूर है।

किन्तु धन-वैभव के सागर में तैरने वालों की संख्या धरती पर बहुत कम है और गरीबी से तंग होने वालों की संख्या बहुत अधिक है। इस विषम दशा का ही परिणाम है कि सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति दिखाई देती है। इसी का फल है कि हमारा नैतिक तथा आत्मिक बल समाप्त हो गया है। और विवश होकर गिरे हुए लोग दुराचार, चोरी, तस्कर व्यापारादि कुकृत्यों की ओर दौड़ रहे हैं। जिसका परिणाम दुःख ही दुःख है। क्योंकि कहा है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।
क्षीणाः जनाः निष्करुणाभवन्ति॥

आज के समाज का सबसे बड़ा देवता धन है। आज की व्यवस्था पूंजीवादी है। धन के नाम पर बड़े से बड़ा पाप करने से मानव भय नहीं खाता। अपने से गरीब प्राणियों पर अत्याचार करता हुआ मानव किञ्चित्-मात्र भी संकोच नहीं करता। यही कारण है कि जनता का एक बहुत बड़ा भाग अभाव, गरीबी, आदि से दुःखमय जीवन बिता रहा है।

इस दुःखमय जीवन को समाप्त करने के लिये ही हमारे दूरदर्शी महान ऋषि-मुनियों ने आश्रम व्यवस्था प्रारम्भ की थी। वैदिक आश्रम व्यवस्था के अनुसार कोई भी प्राणी भूखादि दुःखों से दुःखी नहीं रह सकता। भगवती श्रुति में एक स्थान पर आया है—"न वा ड देवाः क्षुधमिद्वधंददुः।"

अर्थात् किसी भी प्राणी को भूख का दुःख नहीं होना चाहिये। आश्रम व्यवस्था के प्रचलित होने से दुःख का मूल कारण धन-लिप्सा समाप्त हो जाती है। क्योंकि इस पद्धति में धन को विशेष महत्त्व न देकर त्याग के जीवन पर बल दिया गया है। यजुर्वेद में मन्त्र आता है—

ईशावास्पमिदं सर्वम्।
मा गृधः कस्यचिद् धनम्।

अर्थात् यह धन सब परमात्मा का है। किसी के धन की इच्छा न करो। दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले की तरह समझो। कितना अच्छा वेद का सन्देश है। यदि यह भावना आ जाय कि धन साधन है, साध्य नहीं, तो संसार की आधी समस्याएं समाप्त हो सकती हैं। किन्तु हमने तो धन को साध्य ही बना लिया है। जिसका फल दुःख ही दुःख हो रहा है।

आश्रम परम्परा की दूसरी विशेषता यह है कि यह पद्धति दान पर बल देती है। वेद में कहा है कि—"शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।" अर्थात् हे मनुष्य! तुम सौ हाथों से धन कमाओ और हजार हाथों से दान करो। प्राचीन काल में जब स्नातक विद्योपार्जन करके घर के लिये प्रस्थान करता है उस समय दीक्षान्त भाषण देते हुये आचार्य शिक्षा देते हैं—कि गृहस्थ में जाकर दान देना न भूलना। वहाँ लिखा है—"श्रद्धा देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्।" अर्थात् दान

श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, शोभा के लिये दो, लज्जा से दो, भय मानकर दो, प्रण करके दो किन्तु दान देने में भूल न करो।

आश्रम परम्परा की तीसरी विशेषता यह है कि इस व्यवस्था में सम्पत्ति को वितरण करके भोगने पर वल दिया है। वेद के पवित्र मन्त्र क्या ही सुन्दर शिक्षा दे रहे हैं :—"केवलाधो भवति केवलादी।"

"समानी प्रपा सहवो अन्नभागाः ॥"

अर्थात् अकेला सुख से भोग करने वाला पापी होता है। अतः वितरण करके ही सब के साथ भोग करो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस व्यवस्था में धन संचय की कहीं लेशमात्र भी भावना नहीं मिलती। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्योपार्जन तथा शक्ति संचय का समय है। और इसी आश्रम में योग्यता पैदा करके ब्राह्मणादि वर्णों का अधिकारी बनाते हैं। शरीर को स्वस्थ तथा बलवान् बनाना, मन को विविध प्रकार के विद्या-विज्ञानों से भरना, आत्मा को सत्य, न्याय, दया, संयमादि उदाप्त भावनाओं से युक्त किया जाता है। इस प्रकार इस आश्रम में धन संग्रह के कार्य से सर्वथा दूर रहते हैं।

गृहस्थाश्रम में भी ब्राह्मण का कार्य अध्ययनाध्यापन का, क्षत्रिय का रक्षा करने का, शूद्र का सेवा करने का मुख्य कार्य होते हैं। केवल वैश्य वृत्ति वाला ही धन कमाता है। किन्तु उसका मुख्य कर्त्तव्य है कि दान देवे। और तीनों आश्रम वालों की खाद्य समस्या की सचमुचि व्यवस्था करे।

वानप्रस्थाश्रम में तो सब कुछ त्याग कर वन में जाना पड़ता है और घर का सब उत्तरदायित्व अपने पुत्रों पर छोड़कर ब्रह्मचर्य के अनुसार त्याग, तपस्या और संयम का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

संन्यासाश्रम में सभी पदार्थों का परित्याग करना ही है। और त्यागी, तपस्वी, संयमी बनकर, सबका हितैषी होकर, सत्य धर्म का उपदेश देते हुए विचरना पड़ता है।

इन प्रकार इस वैदिक आश्रम परम्परा में पले मानव की प्रवृत्ति धन से विमुख हो जाती है। वह विचारता है कि जब सब सम्पत्ति छोड़नी ही है, फिर धन-संचय के लिये असत्य, अन्याय और अधर्म का आश्रय क्यों लिया जाये। अतः आज भी इस आश्रम व्यवस्था की महती आवश्यकता है।

स्वाध्याय

"कुसुमाकर'

हिम गिरि के उतुङ्ग शृङ्ग-पर-
स्वर-भर-भर गाया जो गान।
उन ऋषियों के हृदय-देश में
जागा पूत प्रणव-अभियान !

'आरण्यक'-अरण्य की प्रतिभा-
पावन प्रकृति-परी का लोक ।
लोक-लोक में जो प्रकटाता रहा-
आत्म-बल का आलोक ।

'षट-दर्शन' का विमल निदर्शन-
करता रहा प्रदर्शन मार्ग ।
'चरैवेति' पुनि 'चरैवैति' का-
मंत्र बचाता रहा कुमार्ग ।

वेद और वेदाङ्ग, उपनिषत्-
साधन, मान का उत्कर्ष ।
ऋजुता, ऋत् औदार्य्य, सुमेधा-
दलते रहे सतत अपकर्ष ।

पावस ऋतु ही पंच-यज्ञ' का
गुरु गौरव गाती सानन्द ।
देवोत्यान' देव पूजा का-
करता इंगित सूर्य अमन्द ।

स्वाध्याय- सद्शक्ति उपार्जन का
करता रहता उपदेश ।
नर-नारी में भातृ-भाव का-
भरता रहा सुभग संदेश ।

स्वाध्याय-'एकाग्र चित्त, सत् ज्ञान-
साम्य का शुचि सोपान है।
ब्रह्मचर्य, यम, नियम साधना
नैतिकता का वर वरदान ।

वचन 'व्यास' का-स्वाध्याय से,
करो 'योग' का तुम संयोग ।
'योग' और 'स्वाध्याय' मिलने से-
प्रभु के दर्शन का शुभ योग ।

निश्श्रेयस्-अभ्युदय सिद्धि का
स्वाध्याय-सौरभ अभिराम ।
मादकता मानव में लाता-
करता नष्ट अमंगल धाम ।

आर्य-संस्कृति संरक्षण का-
विमलादर्श दिखाता नित्य ।
भ्रमोच्छेद-संदेह शमन कर
'मानव-धर्म' सिखाता नित्य ।

वेद-विहित व्रत उपाकर्म हो,
प्रति गृह जागे जीवन-होम ।
अशुचि कर्म से ग्लानि पूर्ण मन-
विकसे जन-जन का प्रतिरोम ।

स्वाध्याय सदग्रन्थ-सुधा का
प्रकटे यहाँ गगन में सोम ।
रस से पूर्ण सरस रसना पर-
रटते रहें आर्य-जन ओ३म् ।

संसार की

एकता का आधार वेद

श्री रामनाथ वेदालंकार एम. ए.
(गुरुकुल कांगड़ी)

आर्य समाज संसार के मनुष्यों के मध्य खड़ी भेद-भाव की समस्त दीवारों को समाप्त करने का दृढ़ संकल्प लेकर चल रहा है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने इसी उदात्त संकल्प की पुष्टि वेद द्वारा की है। काश! कि संसार इस मार्ग पर चल पाता।

कहते हैं एक नगर था, जिसमें सब लोग बड़े प्रेम से रहा करते थे। कोई किसी की उन्नति से ईर्ष्या नहीं करता था, कोई किसी से कलह नहीं करता था। ऐसा भाईचारा था कि देखने वाले चकित होते थे। पर शनैः-शनैः लोगों में द्वेष के भाव अंकुरित होने लगे और एक दिन वह नगर फूट, विद्वेष और कलह का अखाड़ा बन गया। अन्त में सब नगरवासी जब आपसी झगड़ों से बहुत तंग हो गये, तब उन्होंने परस्पर मिल कर निश्चय किया कि भविष्य में हम फिर प्रेमभाव से रहेंगे। ऐसा ही हुआ और वह नगर स्वर्ग सा सलोना बन गया। यह तो हुआ एक दृष्टान्त, पर वस्तुतः आज इस भूमि की भी ऐसी ही अवस्था हो चुकी है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की उन्नति को सह नहीं सकता। प्रत्येक देश दूसरे देश से भयभीत है कि कहीं वह आक्रमण न कर दे। सब अन्दर ही अन्दर अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ा रहे हैं। सर्वत्र बेचैनी है,

हाहाकार है, हिंसा-पिशाची का नृत्य है, युद्ध है, गोलाबारी है, भय है, असन्तोष है। इस अवस्था से तंग आकर ही आज शान्ति-परिषदों व सुरक्षा-परिषदों के आयोजन होते हैं। अतः आज सर्वत्र वेदों की एकता, भ्रातृभाव व शान्ति के सन्देश के प्रचार की आवश्यकता है।

सबसे पहले एकता की भावना के लिए ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त (मण्डल १०, सूक्त १६१) की ओर हमारा ध्यान जाता है। इसके एक-एक शब्द में एकता के भाव भरे हैं—

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥ १॥

हे सुखों की वर्षा करने वाली ऐक्य भावना की अग्नि, तेरे अन्दर बड़ी सामर्थ्य है। तू सबको मिला देने वाली है। अतः आज हम तुझे भूतल में प्रदीप्त करते हैं, तू हमें ऐश्वर्य प्रदान कर।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥२॥

सब राष्ट्र और सब देशवासी मिल कर चलो, मिल कर बोलो, तुम्हारे मन एक हो जायें। जैसे श्रेष्ठ देव मिल कर अपने-अपने भाग को पूर्ण करते हैं, वैसे ही तुम भी करो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

तुम्हारा मन्त्र एक हो, समिति एक हो, मन एक हो, चित्त एक हो। तुम्हारे अन्दर मैं एकता के मन्त्र को फूँकता हूँ। एकता की हवि से मैं तुम्हें आहुत करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥४॥

तुम्हारा संकल्प एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों, तुम्हारा मन एक हो, जिससे तुम्हारे अन्दर पूर्ण एकता का भाव उत्पन्न हो जाये।

संज्ञान सूक्त की भावना से अपने मनों को अनुप्राणित करने के पश्चात् अब हम वेदों के अन्य प्रसंगों को लेते हैं। वेद सर्वभूतमैत्री का सन्देश देता हुआ कहता है—

दृते दृंह मा, मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।
यजुर्वेद ३६ । १८

"सब व्यक्ति मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सब व्यक्तियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ, एवं हम सभी राष्ट्रों के लोग परस्पर मित्र दृष्टि रखें । हे दृढ़ ता के देव प्रभो, इस मैत्री-भाव में तू हमें दृढता प्रदान कर ।

अनमित्रं नो अधाराद् अनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद् अनमित्रं पुरस्कृधि ।। अथर्व ६.४०.३

"दक्षिण दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो, उत्तर दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो, पश्चिम दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो, पूर्व दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो ।"

सहृदयं सांमनस्यम् अविदेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यंत वत्सं जातमिवाघन्या ।। अथर्व० ३.१०.१

"हे मनुष्यों, तुम्हारे अन्दर सहृदयता, सांमनस्य और अविद्वेष के भाव मैं उत्पन्न करता हूँ । तुम एक दूसरे पर ऐसी प्रीति रखो, जैसी गौ अपने नवजात बछड़े के प्रति रखती है ।"

वेद की दृष्टि में कोई मनुष्य किसी भी राष्ट्र का [वासी हो, उसे सारी भूमि को ही अपनी माता समझना होता है ।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः । अथर्व० १२.१. १२

"भूमि मेरी माता है, और मैं उसका पुत्र हूँ ।"

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै । यजु० ९.२२

"माता पृथिवी को नमस्कार हो, माता पृथिवी को नमस्कार हो ।"

धरती पर सुख-शान्ति कैसे रह सकती है, इसके उपाय बताते हुए अथर्व-वेद के पृथिवीसूक्त में कहा है—"सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति" अर्थात् सत्य ज्ञान, सदाचरण (ऋत), व्रतग्रहण (दीक्षा), आस्तिकता (ब्रह्म) और यज्ञ-भावना ये गुण हों तभी यह धरती धृत रह सकती

है। इन पृथिवी धारक गुणों में एक गुण यज्ञ-भावना है। यज्ञ-भावना का अभिप्राय है पारस्परिक सहयोग की भावना। जैसे शरीर के एक अंग का दूसरे अंग के सहयोग रहता है तभी शरीर चलता है, वैसे ही पृथिवी पर एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ और एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सहयोग रहना चाहिए।

भूमि की किसी भी दिशा में हम चले जायें वहाँ हमारा अपमान न हो, धक्के न मिलें, किन्तु प्यार-भरा आतिथ्य और स्वागत हो ऐसी प्रीति की भावना राष्ट्रों में होनी चाहिए।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव, मा विदन् परिपन्थिनो,
वरीयो यावया वधम् अथर्व० ॥१२. १ ३२.

"हे भूमि, न पश्चिम में, न पूर्व में, न उत्तर में, न दक्षिण में तू हमें धक्का दे। तू हमारे लिए मंगलमयी हो। शत्रु होकर कोई हमारे पास न आयें। विशाल मार-काट को तू दूर रख।"

भूमि पर विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले और विभिन्न धर्मों को मानने वाले भी लोगों को आपस में एक घर के समान भ्रातृभाव से रहना चाहिए। यह वेद का सन्देश है। पृथिवी सूक्त में इस भूमि के लिए कहा गया है—

जनं बिभुती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥अथर्व० १२.१.४५

'यह भूमि भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले, भिन्न-भिन्न धर्मो को मानने वाले लोगों को घर के समान अपने अन्दर धारण करे। स्थिर खड़ी रहने वाली, न बिदकने वाली गौ जैसे दूध की धाराएँ प्रदान करती है वैसे ही यह अपने अन्दर विद्यमान ऐश्वर्य की सहस्रों धाराएँ प्रदान करती रहे।"

आज प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नीचा दिखाना चाहता है। शस्त्रास्त्रों की होड लग रही है, ऐसे-ऐसे संहारक अणु गोलों का आविष्कार हुआ है कि एक

ही गोले से देश के देश विध्वस्त हो जाय। परन्तु वेद को यह स्थिति वांछनीय नहीं है। वेद कहता है—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥
यजुर्वेद १६.३

हे रुद्र ! हे शक्तिधर ! तुझे तो गिरिशन्त और गिरित्र अर्थात लोकरक्षक होना चाहिए-"गिरिषु पर्वतवदुन्नतेषु राष्ट्रेषु शं कल्याणं तनोनीति गिरिशन्तः। गिरीन् राष्ट्राणि त्रायते इति गिरित्रः"। तूने अपनी शक्ति के मद में आकर फेंकने के लिए जो-इषु जो एटम शक्ति-हाथ में पकड़ी हुई है उसे शिव बना, उसका संसार के हित के लिए उपयोग कर। उससे तू निरीह पुरुषों का और जगत् का संहार मत कर।

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वम् उभयोरात्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥
यजु० १६। ६

"तूने जो धनुष की दोनों कोटियों पर डोरी चढ़ाई हुई है, उसे खोल दे और जो चलाने के लिए हाथ में बाण पकड़े हुए है, उन्हें दूर रख दे, अर्थात् जो युद्ध की तैयारी कर ली है उससे उपरत हो जा।"

वेद के धनुष और इषु शब्द केवल तीर-कमान को ही सूचित नहीं करते, ये अपने अन्दर व्यापक अर्थ को लिए हुए हैं। धनुष का अर्थ है अस्त्र को गति देने वाला, उसे फेंकने वाला या छोड़ने वाला, और इषु का अर्थ है जिसे गति दी जाती है, जिसे फेंका या छोड़ा जाता है, वह अस्त्र है। एवं तोप धनुष् है, तोप का गोला इषु है। बन्दूक धनुष् है, बन्दूक की गोली इषु है। अणुबम को छोड़ने का साधन धनुष् है, अणुबम इषु है। आज बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोग एक से एक बढ़ कर संहारक शस्त्रास्त्रों के आविष्कार में लगे हुए हैं। वे ही वैज्ञानिक अपनी शक्ति को लोकहित के कार्यों की ओर मोड़ दें तो कितना उपकार हो। आज सब देशों को अपना करोड़ों रुपया सैन्य-शक्ति के विकास में लगाना पड़ रहा है, वही धन यदि जनहित के रचनात्मक कार्यों में लगता तो कितना लाभ होता।

आज परस्पर विद्वेष की भावना से भरे हुए राष्ट्रों को एक दूसरे के प्रति

भ्रातृभाव का हाथ बढ़ाते हुए वेद के शब्दों में कहना चाहिए: —

इदमुच्छ्रेयो ऽवसानमागां
शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु !!

अथर्व० १९.१४.१

"आओ, आज हम परस्पर गले मिल लें। अब तक जो कुछ ईर्ष्या, द्वेष कलह, विध्वंस हमने किया उसकी परम्परा को समाप्त कर दें। अब तक भूमि पर, आकाश में, समुद्र में कहीं भी जाते हुए हमारे मनों में एक भय और सन्देह विद्यमान रहता था कि कहीं यहाँ शत्रु की सुरंगे न बिछी हों, कहीं शत्रु के हवाई जहाज हमें न गिरा दें, कहीं शत्रु की पनडुब्बियाँ हमारे जलपोत को विनष्ट न कर दें। पर आज से इस प्रकार की आशंकाओं का हम अवसान कर दें। अपने मनों से द्वेष और भय को निकाल दें। द्यावा पृथिवी हमारे लिए उद्वेजक न रह कर कल्याण कर हो जायें।"

आज देश-देश में उस वैदिक-भावना के प्रचार की आवश्यकता है। हमारा देश भारत प्रारम्भ से ही सब देशों के साथ मैत्री का इच्छुक रहा है। आज भी उसकी यही नीति है। परन्तु वेद के शान्ति और एकता के संदेश को उसने गलत नहीं समझा है। यदि चीन या अन्य कोई देश शत्रु बनकर उस पर आक्रमण करेगा तो वेद ही उसे शत्रु-दमन की प्रेरणा भी देता है। वह शत्रु का पूरी शक्ति से मुकाबला करेगा।

"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु

अथर्व० १९.१५.६

सब दिशाएँ हमारी मित्र हो जायें।"

यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्तु,

अथर्व० १९.४६.५

जो तुझ पर सैन्य आक्रमण करे, उसे तू पद्दलित कर दे"। वेद की ये दोनों शिक्षाएँ साथ-साथ हैं। तो भी हमारा आदर्श है, विश्व-शान्ति, प्रेम, सहृदयता, सांमनस्य, एकता तथा जगत् का कल्याण और हम उसके लिए प्रयत्नशील हैं।

*

ईश्वर की ज्ञान स्वतन्त्रता

और

जीव की कर्म स्वतन्त्रता

•

श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती', संसद् सदस्य
(सम्राट् प्रेस पहाड़ी धीरज, दिल्ली)

ईश्वर और जीव की स्थिति ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में क्या है इस पर विद्वान् लेखक ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक प्रकाश डाला है। लेखक का अभिप्राय हैं कि जैसा सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता और अंतर्यामिरूपता से ईश्वर जानता है वैसा ही जीव स्वतन्त्रता से कार्य करता हुआ भी पराधीन नहीं है। पाठक मननपूर्वक लेख का स्वाध्याय करेंगे तो उनके अनेक प्रश्न सुलझेंगे।

आर्य विद्वानों में इस बात पर पर्याप्त मतभेद है कि "जिन कर्मों को जीव स्वतन्त्रतापूर्वक भविष्यत् काल में करेगा, उनको ईश्वर पहिले ही जानता है या नहीं।" इसमें कई पक्ष सामने आते हैं—

(१) जानता है, क्योंकि ईश्वर सदा वर्त्तमान और सर्वज्ञ है।

(२) नहीं जानता, क्योंकि जिन कर्मों का अभाव है, उनको भाव रूप में ईश्वर कैसे जान सकता है ?

(३) जीव का कर्म और ईश्वर का ज्ञान एक साथ ही होता है, आगे-पीछे का प्रश्न ही नहीं।

इन तीन मुख्य मतभेदों के अन्तर्गत अन्य अवान्तर मतभेद भी आ जाते हैं।

इस विषय का विवेचन करने से पूर्व सत्यार्थप्रकाश, ऋषिवेदभाष्य और ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के कुछ स्थलों का उद्धरण देकर ऋषि दयानन्द का मन्तव्य प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य है। इन स्थलों का मनन करने के साथ-साथ उस ग्रन्थ के उक्त स्थलों के पूर्वापर प्रकरण को भी पढ़ना आवश्यक है, इससे ऋषि का मन्तव्य अति स्पष्ट हो जावेगा।

सत्यार्थप्रकाश

१. प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह जैसा निश्चय करेगा–जीव वैसा ही करेगा, इससे जीव स्वतन्त्र नहीं और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चय किया है वैसा ही जीव करता है।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे, वह भूतकाल। और न होके होवे, वह भविष्यत् काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एक रस, अखण्डित, वर्त्तमान रहता है। भूत, भविष्यत् जीवों के लिए हैं। हां! जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव किञ्चित् वर्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का ज्ञान अनादि होने से जैसे कर्म का ज्ञान है, वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्म-ज्ञान सच्चा और दण्ड-ज्ञान कभी मिथ्या हो सकता है? इसलिए इसमें कोई दोष नहीं आता। —७ समुल्लास

२. "यः प्रकृष्टतया चराचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः-प्रज्ञ एव प्राज्ञः" जो निर्भ्रान्त, ज्ञानयुक्त सब चराचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है, इससे ईश्वर का नाम प्राज्ञ है। —१ समु०

३. जो कोई पूर्व और पीछे के वर्तमान को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता, क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है। —६ समु०

४. (प्रश्न)—परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिये जितना देना विचारा है, उतना देता है और जितना काम करना है, उतना करता है।

(उत्तर)—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं।

—६ समु०

५—जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कर्मों के करने में स्वतन्त्र है। —७ समु०

६—जब ईश्वर ने देखा तभी जाना कि उजियाला अच्छा है। पहले नहीं जानता था। जो जानता होता तो देखकर अच्छा क्यों कहता? जो नहीं जानता था तो वह ईश्वर ही नहीं। —१३ समु०

७. जब ईश्वर ने बाड़ी बनाकर उसमें आदम को रखा तब ईश्वर नहीं जानता था कि इसको पुनः यहाँ से निकालना पड़ेगा! —१३ समु०

८. जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो इस धूर्त्त सर्प्प अर्थात् शैतान को क्यों बनाता? —१३ समु०

९. प्रथम जब उसको बारी में रखा तब उसको भविष्यत् का ज्ञान नहीं था कि इसको पुनः निकालना पड़ेगा। इसलिये ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं था। —१३ समु०

१०. वह ईश्वर ही नहीं जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत् की बातें जाने—वह जीव है। क्या जब सृष्टि की थी तब आगे मनुष्य दुष्ट होंगे, ऐसा नहीं जानता था? —१३ समु०

११. जो बाइबल का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो उसकी भविष्यत् श्रद्धा को भी सर्वज्ञता से जान लेता। इससे निश्चित होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है। —१३ समु०

१२. वह ईश्वर सर्वज्ञ कभी हो सकता है ? जब लोहू का छापा देखे, तभी इसरायल कुल का घर जाने, अन्यथा नहीं। —१३ समु०

१३. ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है। जो सर्वज्ञ होता, तो ऐयूब की परीक्षा शैतान से क्यों कराता ? —१३ समु०

१४. इससे खुदा सर्वज्ञ नहीं, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान की पूरी बातें नहीं जानता। —१४ समु०

१५. जो भविष्यत् की बातों को जानता होता तो वर ही क्यों देता ? —१४ समु०

१६. क्या परमेश्वर प्रथम ही से नहीं जानता था कि ये प्रतिज्ञा से विरुद्ध करेंगे। —१४ समु०

१७. जो सबको बुराई कराने वाला मनुष्य-मात्र का शत्रु शैतान है, उसको खुदा ने उत्पन्न ही क्यों किया क्या वह भविष्यत् की बातें नहीं जानता था ? जो कहो जानता था, परन्तु परीक्षा के लिए बनाया, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि परीक्षा करना अल्पज्ञ का काम है। सर्वज्ञ तो सब जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों को सदा से ही ठीक जानता है। —१४ समु०

१८. पीछे से प्रतिज्ञा करने से ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा, क्यों जब उसका अन्याय देखा, तब प्रतिज्ञा की, पहले नहीं जानता था। —१४ समु०

१९. जब वह मूर्त्तिमान् है तब एक देशी होने से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्व-शक्तिमान् नहीं हो सकता। —१४ समु०

२. ऋग्वेद भाष्य

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां
अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा॥

ऋ०—१-२५-११॥

भावार्थः—ईश्वरः सर्वत्राभिव्याप्तः सर्वशक्तिमान् सन् सृष्टिरचनादीन्याश्चर्यरूपाणि कृत्वा वस्तूनि विधाय जीवानां त्रिकालस्थानि कर्माणि च विदित्वैतेभ्यस्तत्तत्कर्माश्रितं फलं दातुमर्हति।

ईश्वर सब जगह व्याप्त और सर्वशक्तिमान् होने से सृष्टिरचनादिरूपी कर्म और जीवों के तीनों कालों के कर्मों को जान कर इनको उनके कर्मों के अनुसार फल देने के योग्य है।

२१. अन्तर्ह्यग्न इयसे विद्वान् जन्मोभया कवे दूतो जन्येव मित्र्यः ॥

२–६–७ ॥

पदार्थ—(विद्वान्) सकलवित् (जन्म) जन्मानि (उभया) वर्तमानेन सह-पूर्वापराणि (कवे) क्रान्तप्रज्ञ सर्वज्ञः अन्वय–उभयाजन्मकृत्यानिवेत्सि।

भावार्थ—अन्तर्वहिःस्थः परमेश्वरः सर्वेषां सर्वाणि कर्माणि विदित्व फलं ददाति।

(उभया) वर्त्तमान के साथ अगले पिछले जन्म और कर्मों को जानते हुए।

भावार्थ—भीतर-बाहर परमेश्वर सबके समस्त कर्मों को जानकर फल देता है।

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

२२. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्ववेद १०–८–१ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, दूसरा जो वर्तमान है और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है, उन सब व्यवहारों को वह जानता है।

—ईश्वर प्रार्थना विषय

२३. ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूतभविष्यद्वर्त्तमान कालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैर्श्चर्षिभिरहमेवेड्यो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्वेदमुक्तमित्यदोषः।

भावार्थ—त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को जान के कहा है।

—वेद विषय विचार

जीव

जीव का स्वरूप अल्प, अल्पज्ञ है। नित्य है। उत्पत्ति और विनाश रहित है। जीव और शरीर का संयोग और वियोग होता रहता है। संयोग होने को जन्म और वियोग होने को मृत्यु कहा जाता है। मुक्ति दशा में जन्म और मृत्यु का अभ्यास=चक्र बन्द हो जाता है। जन्म और मृत्यु के कारण जीव भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के बन्धन में रहता है। जीव अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसकी कर्म करने की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यदि स्वतन्त्र कर्म-शक्ति पर प्रतिबन्ध हो जावे, तो जीव को स्वतन्त्रतापूर्वक किये गये कर्मों का फल भी न मिल सके। जीव में ज्ञान और कर्म स्वाभाविक धर्म (शक्ति) हैं। जीव के स्वरूप के समान यह दोनों धर्म सदा बने रहते हैं। अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक बने रहते हैं। यद्यपि जीव के ज्ञान और कर्म उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, परन्तु प्रवाह से यह बने रहते हैं। अतः इनको प्रवाह से नित्य कहा जाता है। स्वरूप से तो ज्ञान और कर्म की शक्ति जीव के साथ बनी रहती है। इस शक्ति का विनाश कभी नहीं होता। जीव के समान यह शक्ति नित्य रहती है। जीव का स्वरूप अल्प और अल्पज्ञ होने से अपने द्वारा किये गये कर्मों का पूर्ण ज्ञान इसको नहीं होता। मुक्ति काल में भी जीव का ज्ञान परम अवधि तक बढ़ने पर भी ससीम रहता है। असीम नहीं। इसी प्रकार कर्म की भी सीमा रहती है। जीव के किये गये कर्मों का नाश हो जाने पर उन कर्मों के संस्कारों, वासनाओं और स्मृतियों का भी फल भोग के पश्चात् नाश हो जाता है। जीव की स्वाभाविक अल्पज्ञता इसमें कारण है। भूत और भविष्यत् के ज्ञान की तो कथा ही क्या वर्तमान काल में किये गये कर्मों के ज्ञान की शक्ति भी सीमित है। सब बातों को जीव वर्तमान काल में भी नहीं जान सकता। जीव को इस बात का ज्ञान होता है कि मैं भविष्यत् काल में अमुक कार्य करूंगा, परन्तु यह बात जीव पर निर्भर करती है कि उस कर्म को करे या न करे। उसकी कर्म शक्ति पर ज्ञान का कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं है। जीव अपने ही ज्ञान के अनुसार कर्म करे ही; यह बन्धन सर्वथा नहीं है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह अपने ज्ञान के अनुकूल कर्म करता

है , तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसको यह कर्म करना ही पड़ता, क्योंकि उसके ज्ञान में यह बात थी, अपितु अपने कर्म करने में वह स्वतन्त्रता है। उसका ही ज्ञान उसके ही कर्म को पराधीन नहीं कर सकता। जानने में भी वह स्वतन्त्र है और करने में भी स्वतन्त्र है। उदाहरण लीजिए। मुझे यह ज्ञान है कि देहली से जालन्धर जाने का यह मार्ग है और मैंने निश्चय किया कि १० दिन के पश्चात् मैं जालन्धर जाऊंगा। परन्तु मैं अपने निश्चय के अनुसार जालन्धर जाऊं ही, यह बन्धन नहीं है। मेरी इच्छा है जालन्धर जाऊं या न जाऊं। मेरा स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म मेरे ज्ञान के निश्चय के आधीन नहीं है। यह उदाहरण स्पष्ट सिद्ध करता है कि ज्ञान का निश्चय जीव की स्वतन्त्र कर्म करने की शक्ति पर कोई अंकुश नहीं डाल सकता। यदि मैं अपने ज्ञान के निश्चय के अनुसार जालन्धर जाऊं तब भी मैं अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जा रहा हूं न कि अपने निश्चय के बन्धन से। यदि बन्धन होवे तो मुझे जाना ही पड़े, परन्तु मैं जैसे जाने में स्वतन्त्र हूँ, ऐसे ही न जाने में भी स्वतन्त्र हूँ, अतः सिद्ध है कि जीव जाने न जाने में स्वतन्त्र है। वह अपने ही ज्ञान के वशीभूत कर्म करने में पराधीन नहीं है।

ईश्वर

ईश्वर स्वरूप से नित्य, अनादि, अनन्त है। अजन्मा और अमर है। उत्पत्ति और विनाश रहित है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने में निमित्त कारण है। जीवों द्वारा किये गये स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मों का न्यायानुसार फल प्रदाता है। वह काल से बाहर है। वह काल के बन्धन में नहीं। उसमें भूत और भविष्यत् काल हैं ही नहीं। वह नित्य स्वरूप से वर्तमान है। ईश्वर वर्त्तमान काल से भी अलिप्त है। वह सदा एक रस और अखण्डित है। उसका ज्ञान भी स्वाभाविक और नित्य है। पूर्ण है। उसको कोई नया ज्ञान नहीं होता और न ही कोई ज्ञान नष्ट होता है। ईश्वर स्वभाव से ही ज्ञान और कर्म में स्वतन्त्र है। जीव अपनी अवधि में ही वर्त्तमान काल में सीमित ज्ञान और कर्म करने में स्वतंत्र हैं। जीव के लिए जो भूत और भविष्यत् काल हैं, ईश्वर के लिए सदा वर्तमान होने से भूत और भविष्यत् काल हो ही नहीं सकते। जिन कर्मों के विषय में जीव का सम्बन्ध भूत और भविष्यत् से है, ईश्वर के लिए उन कर्मों के ज्ञातृत्व

का सम्बन्ध वर्तमान रूप से ही है। जैसे सर्वव्यापकता के कारण ईश्वर की सत्ता पर दिशाओं का सम्पर्क हो ही नहीं सकता, इसी भाँति नित्यता = सदावर्तमानत्व की दृष्टि से ईश्वर पर काल का भी सम्पर्क नहीं हो सकता। ससीम और सान्त पदार्थ सीमा और काल से बद्ध हो सकते हैं, परन्तु असीम अनन्त ईश्वर में काल और दिशा का प्रवेश हो ही नहीं सकता। सर्वज्ञ और वर्तमान होता हुआ ईश्वर वर्तमान रूप में ही उन सब बातों को जानता है, जोकि जीव के लिए भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् काल से सम्बन्ध रखती हैं। ईश्वर का ज्ञान केवलान्वयी है अर्थात् जिसमें अभाव नहीं है। वह सदा भाव-रूप में रहता है।

ईश्वर सर्वव्यापकता के कारण जीवों और जड जगत् में सत्ता-रूप से विद्यमान है। चेतन होने के कारण जड-जगत् से उसका स्पर्श नहीं हो सकता। जीव यद्यपि चेतन है, परन्तु ईश्वर सर्वान्तिर्यामी होने से जीवों में भी व्यापक है। अतः ईश्वर अपनी सर्वज्ञता से जीवों के तीनों कालों के कर्मों और जगत् के समस्त व्यवहारों को वर्त्तमान रूप में यथावत् जानता है। जीवों के कर्मों में उत्पत्ति और विनाश होने पर भी ईश्वर की सर्वज्ञता के कारण उसके ज्ञान में वृद्धि अथवा क्षय नहीं। ज्ञान में वृद्धि और क्षय अल्पज्ञ और अल्पस्वरूप जीवों में संगत है, परन्तु सर्वज्ञ में नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान नित्य-अखण्डित; एकरस और वर्त्तमान रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता।

जैसे जीव अपने सामर्थ्यानुकूल स्वतन्त्रता से जानता है और कर्म करता है। वैसे ही ईश्वर भी अपनी सर्वज्ञता से जीवों के कर्मों और उनके फलों के ज्ञान में स्वतन्त्र है। जीव के कर्म करने पर ईश्वर जाने तो यह ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा है। कर्म करने पर तो जीव भी जान लेता है, जब कि वह स्वरूप से अल्पज्ञ है। सर्वज्ञ तो जीवों के कर्मों को स्वतन्त्रता से ही जानता है। जीवों के स्वतन्त्र कर्म और ईश्वर के स्वतन्त्र ज्ञान में सापेक्षता नहीं है। दोनों स्वतन्त्र हैं। जीव कर्म करने में और ईश्वर जीव के कर्मों को जानने में। जैसे जीव का ज्ञान उसके स्वतन्त्र कर्मों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं डालता, उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान भी जीवों के स्वतन्त्र कर्मों पर कोई बाधा नहीं कर सकता। जीव की कर्म स्वतन्त्रता की कोई हानि ईश्वर की जीव कर्म स्वतन्त्रता के ज्ञान से नहीं है। वह जीव स्वतन्त्रता से करता है और वैसे ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है तथा

ईश्वर सर्वज्ञता से जानता है वैसे ही जीव स्वतन्त्रता से करता है। जीव इसलिए कर्म नहीं करता कि ईश्वर के ज्ञान में मेरा कर्म है, अपितु वह स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म करता है और ईश्वर भी जीव के कर्मों को जानता हुआ जीवों की कर्म स्वतन्त्रता पर बन्धन नहीं डालता। दोनों की अपनी-अपनी स्वतन्त्रता है। जीव में कर्म करने और ईश्वर के जानने में। इसी कारण ईश्वर को जैसा ज्ञान है वैसा ही जीव करता है, तब भी जीव की कर्म करने की स्वतन्त्रता की हानि नहीं। ईश्वर के ज्ञान के निश्चयानुसार जीव स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करता है इससे जीव की कर्म करने की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं। अभी हम पहले उदाहरण दे चुके हैं कि जीव अपने ज्ञान के निश्चयानुसार कर्म करने पर भी वह स्वतन्त्र है। उसके ज्ञान का उसकी कर्म स्वतन्त्रता पर कुछ बन्धन नहीं। ऐसे ही ईश्वर की सर्वज्ञता से जीव की कर्म स्वतन्त्रता पर कुछ अड़चन नहीं है। एक जानता है, दूसरा कर्म करता है। दोनों में कुछ अपेक्षता नहीं है, हां, जीव अपने ज्ञान के निश्चय के अनुसार कर्म नहीं भी करे अथवा करे, क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, अतः अपने ही कर्मों का उसे ज्ञान नहीं, परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है उसे जीवों के सब कर्मों का यथावत् ज्ञान है। जीव उस ईश्वरीय ज्ञान के होते हुए भी स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म करता है, परन्तु ईश्वर के ज्ञान से जीव की कर्म स्वतन्त्रता पर बन्धन नहीं। इससे जीव ईश्वर के पराधीन भी नहीं होता। और जीव अपने स्वतन्त्र कर्मों का फल भोग ईश्वर की व्यवस्था से करता है, इसमें कुछ दोष नहीं। दोष तब हो सकता है कि जब ईश्वर जीव को आज्ञा देवे कि ऐसा कर्म करो। परन्तु ईश्वर ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि जीव की स्वतन्त्रता का अपहरण ईश्वर भी नहीं कर सकता। हां, ईश्वर को सर्वज्ञता से जीवों के कर्मों का ज्ञान होता है। यदि ईश्वर को जीवों के तीनों कालों के कर्मों का वर्तमान काल में ही ज्ञान न होवे, तो ईश्वर जीव के कर्म फलों को भुगवाने और आगे जीव द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म करने में जीव को शरीर आदि सामर्थ्य नहीं दे सकता। शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि सामर्थ्य जीव को उसके पिछले कर्मों का फल भोगने और आगे स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म करने के लिए ईश्वर देता है। यह सामर्थ्य परमेश्वर ने बनाकर दिया, परन्तु कर्म करने के लिये जीव के आधीन है। इनसे जिस प्रकार चाहे जीव स्वतन्त्रता से काम

लेवे। ईश्वर जीव के भविष्यत् काल के स्वतन्त्रता पूर्वक कर्मो को जानते हुए और भूतकाल के कर्मों के फलों को भोगने के लिये वर्तमान शरीर प्रदान करता है। यदि भविष्यत् काल के कर्मों का ज्ञान ईश्वर को न होवे और केवल पिछले कर्मों का फल भोगने के लिए ही शरीर आदि सामग्री देवे, तो जीव स्वतन्त्रता-पूर्वक कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता। यह उसकी (जीव की) स्वतन्त्रता पर बाधा है। इसको अपने नियमानुसार ईश्वर नहीं डाल सकता। अतः ईश्वर को जीव के भविष्यत् काल के कर्मों का वर्तमान में ज्ञान होना आवश्यक एवं अनिवार्य है।

इस सन्दर्भ से यह भी ज्ञात हो गया कि जीव के कर्म और ईश्वर के ज्ञान में साथ-साथ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैसे भी ईश्बर के ज्ञान और जीव के कर्म में सह-अस्तित्व नहीं हो सकता। यदि कर्म को पहले मानें तो ज्ञान क्षणभर पीछे ही मानना पड़ेगा। इससे ईश्वर के ज्ञान में वृद्धि आदि पहले दिये गये दोष आ जाते हैं। यदि यह मानें कि ज्ञान पहले है और कर्म एक क्षण पश्चात् होता है तो ईश्वर के ज्ञान की पूर्ववर्त्तिता स्वयं सिद्ध हो गई। अतः इस मत से ईश्वरीय ज्ञान और जैवी कर्म में सहचार (एक काल वृत्तत्व) नहीं है। जीव स्वतन्त्रता से कर्म करता है, ईश्वर सर्वज्ञता से जानता है और ईश्वर सर्वज्ञता से जानता है, जीव स्वतन्त्रता से कर्म करता है। इसमें पूर्व बतलायी गई सापेक्षता नहीं है।

मुख्य आपत्ति

जिस कर्म को जीव ने अभी तक स्वतन्त्रता पूर्वक किया ही नहीं, उस कर्म को ईश्वर पहले से ही कैसे जान सकता है? जब कर्म का अभाव है, तो ईश्वर अभाव को भाव रूप में कैसे जान सकता है? अभाव जब तक है तब तक अभाव ही जानना ठीक है। और भाव होने पर जाने यह भी ठीक है। परन्तु इससे ईश्वर के ज्ञान में नयापन = वृद्धि हो जाती है। और कर्म के फल भोग की समाप्ति पर ईश्वर का ज्ञान भी समाप्त हो जावेगा, इससे ईश्वर के ज्ञान में नाश की प्राप्ति भी माननी पड़ेगी। इससे ईश्वर के ज्ञान में अनित्यता हो जाती है, जोकि ईश्वर के गुण, सर्वज्ञता और नित्यता के विपरीत है। पहले

जो यह कहा गया कि ईश्वर का ज्ञान केवलान्वयी है, वह मत भी मिथ्या हो जाता है, क्योंकि भावपदार्थ में ही केवलान्वयी-धर्म घट सकता है, अभाव में नहीं।

निराकरण

इस आपत्ति ने साधारण लोगों को ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े स्वाध्याय-शील विद्वानों को भी चक्र में डाल रखा है। इस पर अब विचार करते हैं।

अभाव वास्तव में कोई पदार्थ नहीं है, इसी कारण प्राचीन न्याय और वैशेषिक में मुख्य रूप से अभाव की गणना पदार्थों में नहीं की गई। भाव ही पदार्थ होता है क्योंकि उसकी सत्ता तीनों कालों से सम्बन्ध रखती है। जिस पदार्थ की सत्ता नहीं है, उसका नाम अभाव है। अभाव के चार भेद हैं। अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव, ध्वंसाभाव और प्रागभाव। (१) जिस अभाव की सत्ता=भाव तीनों कालों में कभी नहीं होती, वह अत्यन्ताभाव कहलाता है, जैसे बन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग और आकाश कुसुम आदि। (२) प्रत्येक भावपदार्थ अपनी सत्ता तो है परन्तु दूसरे भाव पदार्थ की सत्ता उसमें नहीं है। जैसे गौ में गोत्व अर्थात् गायपन तो है, परन्तु गौ में अश्वत्व=घोपड़ापन नहीं है, क्यों कि वह घोड़ा नहीं है। ऐसे ही अश्व में अश्वत्व तो है, परन्तु गोत्व नहीं। यह अन्य भाव पदार्थ में अन्य भाव पदार्थ का अभाव अर्थात् अन्योन्याभाव कहाता है। (३) जो पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, तब उस पदार्थ के अभाव को ध्वंसाभाव कहते हैं, जैसे घड़े के टूटने पर घड़े का अभाव हो जाता है। (४) पदार्थ के उत्पन्न होने से पूर्व पदार्थ के अभाव को प्रागभाव=प्राक्+अभाव कहते हैं। जैसे घड़ा बनने से पूर्व प्राग्—अभाव था। इन चार प्रकार के अभावों में जीव का आगे स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करने से पूर्व प्रागभाव ही हो सकता है, शेष तीनों नहीं।

जीव में कर्म करने की शक्ति स्वाभाविक है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जीव कर्म न करे, परन्तु कर्म करने से पूर्व उसको आगे किये जाने वाले कर्म का ज्ञान इसलिए नहीं, क्योंकि जीव स्वरूप से अल्प और अल्पज्ञ है। इसी कारण अपने ही कर्म के प्रागभाव रूप के पश्चात् कर्म का ज्ञान नहीं होता। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है, अतः जीव को जो प्रागभाव है, वह ईश्वर

के लिए भाव ही है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान स्वभाव से ही नित्य है प्रागभाव उन्हीं पदार्थों का हो सकता है जोकि काल से बद्ध होवें। ईश्वर काल से बाहर है, अतः उसके लिए अभाव नहीं होता। जीव स्वरूप से नित्य होते हुए भी जन्म और मृत्यु के सम्पर्क के कारण काल के बन्धन में होता है, इस लिए जीव की अल्प शक्ति और अल्पज्ञता तीनों कालों का ज्ञान नहीं होने देती। जीव के भविष्यत् काल में किये जाने वाले कर्मों की बात को तो दूर ही रखिये। भूतकाल में जो कर्म जीव ने किए थे, उनका ज्ञान = स्मृति उसको नहीं रहती। अतीत की कथा को भी छोड़िए। वर्तमान काल में भी जो कर्म जीव करता है, उन सबको भी स्मरण नहीं रख सकता। उसी दिन किए हुए कई कर्मों का भी स्मरण जीव को नहीं रह जाता। इस सारी समस्या का कारण जीव की अल्पता और अल्पज्ञता है। परन्तु परमेश्वर इन दोषों से रहित है। उसका ज्ञान सदा वर्तमान है, अतः जीव के भविष्यत् काल के कर्मों को भी वर्तमान रूप से ही जानता है।

जीव की कर्म शक्ति नित्य है और ज्ञान-शक्ति भी। अल्पज्ञता के कारण वह मन से अपने भविष्यत् कालों के कर्मों को नहीं जान सकता, परन्तु ईश्वर उनको जानता है। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के ४० अध्याय के "मनीषी" पद का अर्थ यह किया है—

(मनीषी) यः सर्वेषां मनसां-ईषी-साक्षी-ज्ञाता अस्ति। अर्थात् ईश्वर जीवों के मनों का साक्षी और ज्ञाता है। यजुर्वेद ४०-५ मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

"सर्वेषां जीवानां अन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पापपुण्यात्मक-कर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं प्रयच्छति—अन्तर्यामी रूप से जीवों के सब पाप-पुण्य रूप कर्मों को जानता हुआ यथार्थ फल देता है।" इस अर्थ में ऋषि ने "विजानन्" क्रिया के वर्तमान पद का प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ का सार यह है कि

ईश्वर जीवों के तीनों कालो के कर्मों को वर्तमान रूप में ही जानता है। इसमें उसकी अन्तर्यामीरूपता-कारण है। ईश्वर के ज्ञान में कोई अभाव नहीं है। जीव अपने स्वरूप की अल्पता और अल्पज्ञता के कारण अपने सब कर्मों

का ज्ञान नहीं रखता। इस सन्दर्भ से मुख्य आपत्ति का सर्वथा निराकरण हो जाता है।

विशेष पाठक बन्धुओ! मैंने ऋषि के जिन पदों को बड़े अक्षरों में दिया में, कृपया उनका पुनः पुनः मनन कीजिए।

अतः सिद्ध होता है कि जैसा सर्वज्ञता, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमत्ता और अन्तर्यामिरूपता से ईश्वर जानता है वैसा ही जीव स्वतन्त्रता से करता हुआ भी पराधीन नहीं है। यह ऋषिदयानन्द का स्पष्ट मन्तव्य है। इस मन्तव्य की व्याख्या करने में मेरी अल्पज्ञता कारण हो सकती है, परन्तु ऋषि का मन्तव्य सिद्धान्त कोटि पर पूरा उतरता है। विषय की गूढ़ता के कारण वाक्यों और पदों की पुनरावृत्ति करनी पड़ी है।

●

ऋषि उपदेश

- जैसे माता पिता अपनी सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नत्ति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है। जिस से मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूट कर विद्या विज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें, और विद्या तथा सुखों की वृष्टि करते जावें।
- विना शुद्ध परमात्मा की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता।
- पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म, पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है।
- कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म उपासना, और ज्ञान से रहित नहीं होता, इसलिए धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्या-भाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

स्वाध्याय करो तो........

स्वाध्याय करो तो कठिन सरल बन जाये !

शूलों में उतनी शक्ति न जितनी पग में,
मंजिल में उतना ओज न जितना मग में,
साधना कहो तो सिद्धि स्वयं मुस्काये !
स्वाध्याय करो तो कठिन सरल बन जाये !!

आलस्य स्वयं जीवन-पथ पर बाधा है,
साहस से होता कार्य स्वयं आधा है,
कर्मठता से सफलता स्वयं लजाये !
स्वाध्याय करो तो कठिन सरल बन जाये !!

संघर्षों की गति विषम, चिराहत संयम,
निश्चय से होंगे दूर स्वयं सारे भ्रम,
बन सको भगीरथ तो सुर सरि लहराये !
स्वाध्याय करो तो कठिन सरल बन जाये !!

श्वासों की गति को नियति रोक कब पायी,
संकल्पी मन की चेरी है तरुणाई,
दृढ़ व्रत से निष्फल आशंका टकराये !
स्वाध्याय करो तो कठिन सरल बन जाये !!

—विद्यावती मिश्र

२२३, राजेन्द्र नगर लखनऊ,

आत्मा का स्वरूप

आचार्य उदयवीर शास्त्री
(बड़ी होली, गाजियाबाद)

"आत्मा" की खोज सत्य की खोज और हमारा लक्ष्य है। किन्तु यह खोज आसन नहीं। दर्शन की गहन गुत्थियां सुलझा कर प्राप्त अमूल्य विचार-रत्न प्रसिद्ध दार्शनिक की लेखनी से पढ़िये।

आत्मा' पद का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय की प्रत्येक शाखा में जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए हुआ है। इन अर्थों में इस पद का प्रयोग मुख्य है। 'स्वरूप' आदि अन्य अर्थों में औपचारिक प्रयोग भी इस पद का देखा जाता है। 'आत्मा' पद का धातु-अनुसारी अर्थ है—सतत गतिशील तथा सतत सर्वत्र प्राप्त, जीवात्मा अनादि काल से एक देह से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में निरन्तर गति करता चला आ रहा है, वह देह चाहे किसी योनि, किसी जाति का हो। उसकी यह गति कभी रुकने वाली नहीं अनादि काल से चालू है और अनन्त काल तक इसी प्रकार चलते रहने की संभावना है। इसी वस्तु स्थिति पर देह के अधिष्ठाता चेतन तत्त्व के लिए 'आत्मा' पद का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त एक ऐसा चेतन-तत्त्व है, जो निरन्तर सर्वत्र प्राप्त है। उसकी सत्ता में देश और काल किसी रूप में बाधक नहीं होते, उस सर्वान्तिर्यामी समस्त विश्व के अधिष्ठाता चेतन तत्त्व के लिए भी धात्वर्थ के अनुसार 'आत्मा' पद का

प्रयोग होता है। इस प्रकार 'आत्मा' एक साधारण पद है, जो जीव और ईश्वर दोनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतएव उसके प्रयोग में विभेद करने के लिए उसके साथ पृथक्-प्रथक् दो विशेष पद लगा दिये जाते हैं—जीव और परम। यहाँ केवल जीवात्मा के स्वरूप के विषय में कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं।

जीव नाम क्यों ?

देह के अधिष्ठाता चेतन आत्मा का 'जीव' नाम उसकी एक विशेष अवस्था के आधार पर रखा गया है। स्थूल शरीर में आत्मा के विद्यमान रहते ही प्राणवृत्ति का होना संभव होता है। इसी कारण स्वतन्त्र रूप से आत्मा को 'जीव' कहा जाता है, अथवा 'आत्मा' पद के साथ इस पद को जोड़कर उक्त विशेषता को प्रकट करने के लिए इसका प्रयोग होता है। कतिपय आचार्यों का विचार है कि बुद्धि आदि साधनतत्त्व 'जीव' हैं और आत्मा उनसे एक अतिरिक्त तत्त्व है। परन्तु यह विचार वैदिक वाङ्मय के अनुकूल नहीं है। अति प्राचीन काल से 'जीव' पद आत्मा के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् [५।९] के '**भागो जीवः स विज्ञेयः**' वाक्य में जीव पद शरीर के अधिष्ठाता चेतन आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य [६।११।३] के—'**जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते**' देह से जीव निकल जाने पर यह देह मृत कहा जाता है, जीव कभी नहीं मरता—इस वाक्य में आत्मा को 'जीव' कहा गया है। छान्दोग्य [६।३।२] के अन्य एक, '**अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य**' वाक्यांश में 'आत्मा' के साथ 'जीव' पद का प्रयोग इन पदों की पर्यायता को पुष्ट करता है। ऋग्वेद (१०।७८।९) में आता है—

'दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥'

दस महीने माता के गर्भ में शयन कर बाल रूप में वह अविनाशी जीव बाहर आता है, तब वह माता के आश्रय पर रहता है। इसी प्रकार अथर्ववेद [२।२८।४] में आया—'**यथा जीवो अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः**' जैसे जीव प्रकृति के दिए हुए शरीर में प्राण-अपान के द्वारा सौ वर्ष तक सुरक्षित रहते हैं। इन प्रसंगों में जीव पद का प्रयोग देहाधिष्ठित आत्मा के

लिये हुआ है। यह आत्मा सृष्टि के समस्त स्थितिकाल में एक क्षण के लिए भी सूक्ष्म-शरीर को छोड़कर अलग नहीं रह सकता। सूक्ष्मशरीर का साथ इससे या तो आत्म-ज्ञान होने पर छूटता है, या समस्त विश्व का प्रलय उपस्थित होने पर। आत्मा का कोई कार्य सूक्ष्मशरीर के सहयोग में हो पाता है, आत्मा के भोग-अपवर्ग रूप कार्य को सम्पन्न करने वाले सूक्ष्मशरीरगत समस्त साधनों में बुद्धि का प्राधान्य रहता है, इसलिए अनेक स्थलों पर केवल बुद्धि अथवा अन्तःकरण के सहयोग का उल्लेख इस रूप में कर दिया जाता है कि अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित आत्मा का नाम जीव है। इसका अभिप्राय यह हो गया कि आत्मा स्वयं अपनी इस विशेषता [सूक्ष्म-शरीर से अलग होकर न रहना] के कारण 'जीव' कहलाता है। प्रथम कहा गया कि आत्मा अपनी एक विशेष अवस्था के आधार पर 'जीव' नाम पाता है, वह विशेष अवस्था यही है कि समस्त सर्गकाल में एक क्षण के लिये भी वह बुद्धि आदि-सूक्ष्मशरीरगत-अपने सहयोगियों अथवा साधनों से अलग होकर केवल स्वरूप में नहीं रह सकता। इससे स्पष्ट होता है कि सूक्ष्मशरीर के साथ संपृक्त होना आत्मा के 'जीव' नाम का कारण है। प्रत्यक्ष प्राणवृत्ति का आविर्भाव सूक्ष्मशरीरविशिष्ट आत्मा का स्थूल शरीर के साथ संपर्क होने पर हो पाता है। आत्मा के 'जीव' नाम व्यवहार का यह मुख्य क्षेत्र है।

जीवात्मा का स्वरूप

इस संक्षिप्त विवेचन से जीवात्मा के स्वरूप का थोड़ा परिचय मिल जाता है। जीवात्मा चेतन स्वरूप है, भोक्ता है, कर्त्ता है। एक देह को छोड़कर दूसरे देह में चला जाता है। यह गति और आगति उसे परिछिन्न अर्थात् अणु-परिमाण सिद्ध करती है। दर्शन तथा अध्यात्म शास्त्रों के अनुसार जीवात्मा के विषय में 'उत्क्रान्ति' गति, आगति' पद कुछ पारिभाषिक रूप स्वीकार किये हुए हैं। जीवात्मा के द्वारा एक देह को छोड़ना 'उत्क्रान्ति है, अन्य देश में जाना 'गति' तथा देहान्तर को प्राप्त होना 'आगति' है। सूक्ष्मशरीर के सहयोग के बिना यह अपनी गति-आगति में असमर्थ रहता है। जीवात्मा की गति-आगति का केवल साधारण जाना-आना अर्थ नहीं समझना चाहिये। शरीर के संयोग-वियोग में ही इसका तात्पर्य सन्निहित है। प्रलय काल में जब आत्मा अविवेकी है, सूक्ष्मशरीर का सहयोग न रहने पर सुप्तवत् पड़ा रहता है, तब

उसमें गति-आगति की कोई संभावना नहीं, क्योंकि शरीर के संयोग-वियोग का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। मोक्षा अवस्था में विवेक अथवा आत्मसाक्षात्कार हो जाने के कारण जीवात्मा को वह सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है कि वह सूक्ष्म-शरीर अथवा अन्य किसी सहयोगी या साधन के विना आनन्द में विचरण कर सकता है, तब शरीर सम्बन्ध न होने से उस अवस्था को गति-आगति नहीं कहा जाता।

आत्मा की गति-आगति तथा अन्य भोग आदि कार्यों में सूक्ष्मशरीर का आवश्यक सहयोग रहता है। इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिये, कि पुरुषार्थ के उन समस्त कार्यों के करने में सूक्ष्मशरीर स्वतन्त्र रूप से समर्थ है, क्योंकि अचेतन सूक्ष्मशरीर अथवा उसके घटक बुद्धि आदि तत्त्व स्वयं स्वतन्त्र रूप से कुछ भी करने में उस समय तक असमर्थ रहते हैं, जब तक चेतन का सहयोग या सान्निध्य उन्हें प्राप्त न हो। उन सब कार्यों का नियन्ता व अधिष्ठाता चेतन रहता है। इसलिये जितने गति-आगति अथवा अन्य पुरुषार्थ के कार्य सम्पन्न होते हैं, वे सब चेतन से प्रेरित होने के कारण उसी के समझे जाते हैं। लिंग अथवा सूक्ष्मशरीर उन समस्त पुरुषार्थ कार्यों के सम्पादन में साधन-मात्र होते हैं। इस प्रकार उत्क्रान्ति एवं गति-आगति का आधार शास्त्र में जीवात्मा को माना गया है, जो उसकी परिछिन्नता का सुपुष्ट प्रमाण कहा जा सकता है। गति-आगति जीवात्मा के होते हैं, इसके लिये बृहदारण्यक उपनिषद् [३।६।४; ४।४।५], तथा कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् [१।२; ३।३; -।४] के स्थल द्रष्टव्य हैं। वेदान्त ब्रह्मसूत्रों [२।३।१६।३२.] में इस विषय का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और जीवात्मा के अणुपरिमाण होने का निश्चय किया है। फलतः जीवात्मा का स्वरूप चेतन कर्ता, भोक्ता एवं अणु-परिमाण वाला होना सिद्ध होता है।

अणु आत्मा उपनिषदों में

उपनिषदों में अनेकत्र जीवात्मा को अणुरूप में निर्दिष्ट किया गया है। मुण्डक उपनिषद् (३।१।९) में कहा—

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सं विवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

इस अणु आत्मा को वुद्धि के द्वारा जानना चाहिए, जिस बुद्धि में पांचों प्राण वृत्ति रूप से सन्निविष्ट हैं। मानवमात्र की बुद्धि प्राणों से प्रभावित रहती है। वुद्धि के विशुद्ध हो जाने पर आत्मा प्रकाशित हो जाता है। तात्पर्य यह कि शुद्ध अन्तःकरण द्वारा ही उस आत्मा का साक्षात्कार होता है। जब वुद्धि बाह्यवृत्तियों से प्रभावित रहती है, वह अन्तःकरण की मलिन अवस्था है, तव आध्यात्म की दिशा में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

कठ उपनिषद् [१।२।१३] में बताया—

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥

यमाचार्य नचिकेता को कह रहा है—जिस आत्म तत्त्व का मैं प्रवचन करने लगा हूं, उसको सुनकर आत्मभावना से श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण कर तथा शरीर आदि जड़ तत्त्वों से पृथक् रूप में इस अणु एवं धर्मयुक्त आत्मा को जो मानव जान लेता या प्राप्त कर लेता है, वह सब प्रकार से प्रसन्न व आनन्द युक्त हो जाता है। यक्ष कहता है—मैं नचिकेता को आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के योग्य समझता हूँ। आगे कठ उपनिषद्[२।१।१२-१३ तथा २।३।१७] में आत्मा को 'अंगुष्ठमात्र' कहा है, अर्थात् अंगूठे के समान परिमाण वाला। वस्तुतः आत्मा के लिए ऐसा उल्लेख मस्तिष्कगत उसके निवास स्थान की रचना के आधार पर किया गया है। [इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखें, हमारी रचना—['सांख्य सिद्धान्त' पृष्ठ १०८-१३७]। इससे आत्मा का परिच्छिन्न परिमाण होना स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार श्वेताश्वर उपनिषद् [३।१३, तथा ५।८।९] में आत्मा को अंगुष्ठमात्र कहकर एक बाल के अग्रभाग के दस हजारवें हिस्से के समान अणु वताया है। यह कथन जीवात्मा की अत्यन्त अणुता का निर्देश करने के अभिप्राय से किया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बाल के अग्रभाग का ठीक दस सहस्रवां भाग जीवात्मा का परिमाण है।

आचार्य पञ्चशिख के एक सन्दर्भ में स्पष्ट ही आत्मा को 'अणुमात्र' कहा है। वह सन्दर्भ है—'तमणुमात्रमात्मानमनुविश्वास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते' यह सन्दर्भ योगदर्शन समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र पर व्यासभाष्य में उद्धृत है। जव योगी आत्म-साक्षात्कार के लिये समाधि का अभ्यास करता है, उस

समय उसकी एक ऐसी स्थिति आती है, जिसका नाम योगशास्त्र में 'ज्योतिष्मती' कहा जाता है। इसमें प्रथम मन की स्थिरता बढ़ते पर सूर्य, चन्द्र अथवा मणिप्रभा आदि के रूप में कुछ प्रकाश सन्मुख आने लगते हैं। मन के और अधिक स्थित होने पर वह अपने कारण-अस्मिता में लीन हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं का नाम 'ज्योतिष्मती' है, जब मन 'अस्मिता' में लीन होता है, उस समय आत्मा 'अस्मि' इस रूप में अपना साक्षात्कार करता है। उस साक्षात्कार का स्वरूप पञ्चशिख के उक्त सन्दर्भ में दिखलाया गया है। उसका तात्पर्य यह है—उस अणुमात्र आत्मा को जानकर 'अस्मि' इस रूप में साक्षात्कार करता है। इस सन्दर्भ में 'अणु' के साथ 'मात्र' पद ध्यान देने योग्य है। 'मात्रच्' प्रत्यय प्रमाण अर्थ में होता है, जो आत्मा के परिमाण की ओर संकेत करता है। आत्मा के इस स्वरूप का साक्षात्कार मोक्षप्रद होता है। ऐसे आत्मपरिमाण-सम्बन्धी वर्णन जीवात्मा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु परिमाण की ओर संकेत करते हैं।

निगमन

देह के एकदेश मस्तिष्कगत हृदय में जीवात्मा के निवास का वर्णन उपनिषदादि सब शास्त्रों ने किया है। यह भी जीवात्मा के अणु-परिमाण को सिद्ध करता है। फलतः देह का अधिष्ठाता जीवात्मा कर्ता-भोक्ता, नित्य चेतन स्वरूप अणुपरिमाण अनादि, अनन्त तत्त्व है, यह वेदादि सत्यशास्त्रों के अनुसार प्रमाणित होता है।

●

- सब को तुल्य वस्त्र, खान-पान आसन दिए जावें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की सन्तान हों। सब को तपस्वी होना चाहिए।

— ऋषि दयानन्द

शांति का वैदिक मार्ग

आचार्य विश्वश्रवाः एम० ए०
(११६ गौतम नगर, नई दिल्ली–१६)

ओं द्यौ शान्ति······वेद का वड़ा प्रसिद्ध मन्त्र है। यह सर्वत्र बोला जाता है। 'इस मन्त्र के अन्त में भगवान् से प्रार्थना की है कि—

सा मा शान्तिरेधि

(सा) वह (शान्तिः) शान्ति (मा) मुझ को (एधि) प्राप्त होवे।

प्रत्येक राष्ट्र और व्यक्ति सुख चाहता है।

षट् दर्शनों का निर्माण इसीलिए हुआ है कि दुःख दूर हों और शान्ति प्राप्त हो।

धर्मशास्त्र धर्म का उपदेश इसीलिए करते हैं कि धर्म का पालन करके सब सुखी हों।

चारों वेदों का उपदेश प्रभु ने इसीलिये किया कि संसार इसके अनुसार चलकर परम सुख प्राप्त करे।

नास्तिक भी ईश्वर और धर्म का ढोंग यही कहकर बताते हैं कि इनसे दुनिया दुःखी रही है। हम सुख का उपाय बताते हैं।

बड़े-बड़े राष्ट्र अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण यही कहकर करते चले जा रहे हैं कि हम इनके बल पर शान्ति की स्थापना करेंगे। बड़े-बड़े गोलमेज सम्मेलन शान्ति के लिये भी होते रहे। भारत राष्ट्र में हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा शान्ति के नाम पर ही अलापा गया।

प्रत्येक पार्टी दूसरी पार्टी को हटाने का आन्दोलन यही कह कर करती है कि इनको हटा कर संस्था में हम शान्ति की स्थापना करेंगे। चारों ओर शान्ति का ही नारा है, पर वेद कहता है कि—

"शान्तिरेव शान्तिः"

अर्थात्—जिस शान्ति के द्वारा तुम संसार में शान्ति की स्थापना करना चाहते हो, वह शान्ति स्वयं भी शान्ति है या नहीं। चन्दन शान्त है, उसके लगाने से शिर दर्द शान्त हो जाता है। शीतल जल के पीने से पिपासा शान्त हो जाती है। इसलिये पहिले उन उपायों पर विचार करो कि शान्ति स्थापित करने के वे उपाय ठीक भी हैं या नहीं या तुम अशान्त आग की ज्वालाओं से शिर दर्द शान्त करना चाहते हो। गरम उबलते जल से पिपासा दूर करना चाहते हो। मनुष्य यहीं धोखा खा जाता है कि वह गलत साधनों को सही साधन समझ लेता है। कुछ जान-बूझ कर ढोंग रचते हैं। शान्ति के सच्चे उपायों द्वारा ही शान्ति की स्थापना हो सकती है। परन्तु—

"सर्वं ँ शान्तिः"

अर्थात्—हे मनुष्य! सच्चे शान्ति उपायों से भी तू अकेला शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जब सबको शान्ति प्राप्त होगी तब तुझ अकेले को भी शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः महर्षि ने कहा कि—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" तू अपने बच्चे को तब तक अच्छा नहीं बना सकता जब तक गली और मुहल्ले के सब बच्चे अच्छे न हों। एक व्यक्ति यज्ञ करे और उसी स्थान पर बैठकर सौ आदमी हुक्का पीवें तो वह यज्ञ भी उलझन में पड़ जावे। अतः जब सब को शान्ति प्राप्त होगी तब तुझ अकेले को भी शान्ति प्राप्त होगी।

"ब्रह्म शान्तिः"

सब शान्त तब होंगे जब ईश्वर और वेद शान्त हों। केवल अपने पुरुषार्थ से शान्ति नहीं हो सकती, जब तक ईश्वर की कृपा भी सम्मिलित न हो। अतएव सन्ध्या के समर्पण में जहाँ महर्षि ने लिखा है कि—

"अनेन जपोपासनादि कर्मणा धर्मार्थकाम मोक्षाणां सद्यः सिद्धि र्भवेन्नः।"

अर्थात्—जपोपासना आदि साधनों से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्त होते हैं। वहाँ यह भी साथ में जोड़ा है कि—

'भवत्कृपया'

अर्थात् मैं अपने पुरुषार्थ से तब सिद्धि प्राप्त कर सकता हूँ जब प्रभु की कृपा भी हो। परमात्मा तो सदा ही शान्त स्वरूप है पर तू उन उपायों को ढूँढ जिससे प्रभु कृपा तुझ पर हो जावे।

वेद भी तब शान्ति देने वाला होता है जब उसके उलटे अर्थ न किये जावें। पशु हिंसा वेद के नाम पर चली। सती प्रथा वेद के नाम पर चलाई। मूर्ति पूजा आदि ढोंग वेदों के नाम पर चलाये गये। सब कुछ वेद का नाम लेकर किया गया। यह भी उपलक्षण मात्र है वास्तव में तो—

अशान्त शिक्षा से अशान्ति है

पहिले वेद शिक्षा देने वाले कहे जाते थे। अनार्ष भाष्यों ने वेद का वातावरण बदल दिया। शिक्षा स्वतन्त्र हो गई। अब वेद की लगाम भी गई। अब चारों ओर शिक्षा ही शिक्षा फैली हुई है। स्वतन्त्र शिक्षा, स्वतन्त्र विचार, स्वतन्त्र विद्वान्, स्वतन्त्र शैली। उसके उदाहरण भी सुनिये—

१—किसी भी देश की सड़कों पर चले जाइये। सिनेमा के चित्र जो दीवारों पर डंके की चोट लगाये जाते हैं, धर्म शिक्षा पढ़ा रहे हैं।

२—समाचार पत्र प्रातः काल ही धर्मोपदेश देने आ जाते हैं जिनमें मोटे-मोटे अक्षरों में शीर्षक होते हैं कि—

क. लड़की भगाई गई—और कैसे।

ख. बलात्कार हुआ—और कैसे।

ग. डाका पड़ गया—और कैसे।

घ. आत्महत्या करली—और कैसे।

३—उपन्यास भी महान् धर्म का उपदेश करते हैं।

४—रेलवे स्टेशनों पर बिकने वाली मनोहर कहानियां आदि मासिक पत्रिकाएं भी वेद प्रचार खूब करती हैं जिनमें कम्युनिस्टों की लिखी कहानियां प्रायः होती हैं जिनमें सिखाया जाता है, ईश्वर और धर्म ढोंग है। व्यभिचार स्वाभाविक है जिनमें उपदेश किया जाता है।

५—बिलकुल ही अन्धा हो और कुछ न पढ़-लिख सके तो उसके लिये सिनेमा और रेडियो धर्मोपदेश के लिये पर्याप्त हैं।

६—जब स्कूलों में पढ़ने जाओ, वहाँ भी धर्म का उपदेश हो रहा है कि प्राचीन आर्य गोमांस खाते थे। और पूर्वज मूर्ख थे। धीरे-धीरे अकल आई है। जब चारों ओर ही ऐसे धर्म का उपदेश हो रहा है तब अशान्ति की क्या कमी हो सकती है।

सब साधनों द्वारा यदि सच्चे धर्म का उपदेश किया जावे तो संसार ही पलट जावे। परन्तु इस उलटे धर्म का उपदेश कोई साधारण व्यक्ति नहीं कर रहे हैं। कर रहे हैं संसार के महान् नेता, महान् लेखक, महान् विद्वान्, महान् संपादक। अतः वेद कहता है कि—

"विश्वे देवाः शान्तिः"

अर्थात्—हे संसार के विद्वानों! तुम शान्त हो जाओ तब शान्ति संसार में हो सकती है। अतएव महर्षि ने लिखा है कि—

धरती और आकाश वही है। सूर्य और चन्द्र वे ही हैं। जलवायु वही है। पर यह दुःख आ कहां से गया है। हे मनुष्य! तूने स्वयं दुःख पैदा किया है। इस प्रकार का भाव महर्षि ने विस्तार से लिखा है। अतः जब तक संसार के विद्वानों को बुद्धि नहीं आवेगी, तब तक शान्ति कहाँ! ये विद्वान् कब शान्त होंगे। इसका उत्तर वेद देता है कि—

"ओषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिः"

अर्थात्—जिन ओषधि वनस्पतियों से मनुष्य बनता है वे शांत हों। जैसे कहा है कि—

"यादृशं भक्ष्यते ह्यन्नं तादृशी जायते प्रजा'
अर्थात्—जैसा अन्न वैसा मन।

जिन विद्वानों का भोजन ही-- मांस और मदिरा है। जो सब इन्द्रियों से विषयों का भोजन करते तृप्त नहीं होते हैं। कुशिक्षा ही जिनकी शिक्षा है। कुवातावरण जिनका शान्त वातावरण है। और जैसा कवि कालीदास की

लेखनी से शकुन्तला बोलती है कि "पराभिसन्धानमधीयते यै विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाच:" अर्थात्--दूसरे को ठग कर अपना घर भरने के लिये जो विद्या सीखते हैं, वे आज़कल विद्वान् हैं। अत: विद्वानों के भोजन को ठीक करो। उसके लिये आवश्यक है कि—

पृथिवी शान्तिः। आपः शान्तिः।

अर्थात्—जिस जल से और जिस पृथिवी में ओषधि और वनस्पति पैदा होती हैं, वे जल और पृथिवी शान्त हों तो ओषधि और वनस्पति शान्त पैदा हों। पूर्व काल में यज्ञ के द्वारा वर्षा के जल से ओषधि और वनस्पतियाँ पैदा होती थीं। सारे देशों की भूमियाँ भी यज्ञ कुण्डों से पवित्र अन्त:भाग वाली थीं। वायु-मण्डल और आकाश वेद ध्वनि से गूंजित था। यज्ञ के द्रव्यों से वर्षा जल का निर्माण होता था। अतः देखो कि—

"अन्तरिक्षं शान्ति:"

अर्थात् जहाँ से जल बरसता है, वह अन्तरिक्ष भी शान्त है या नहीं। कैसा अब अन्तरिक्ष है। उस अन्तरिक्ष की स्थिति का निर्माण कौन पदार्थ कर रहे हैं। और उस अन्तरिक्ष से कैसा जल बरस रहा है जो ओषधि और वनस्पतियों का निर्माण कर रहा है जिनका सेवन सब करते हैं और अजीब प्रकार के बन रहे हैं। पर

"द्यौः शान्ति:"

अन्तरिक्ष में जो जल है उसमें कुछ द्युलोक में मिला रहा है या नहीं। मनु ने कहा है कि—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज् जायते वृष्टि र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।

अर्थात्—अग्नि में डाली हुई आहुति द्युलोक को जाती है वहाँ से अन्तरिक्ष में वृष्टि की सृष्टि होती है। इस वृष्टि से अन्न पैदा होता है और उस अन्न से मनुष्य का निर्माण होता है। अतः हे संसार के प्राणियो—

सा मा शान्तिरेधि = तुम सच्ची शान्ति चाहते हो, तो

शान्तिरेव शान्तिः=पहिले उस शान्ति को समझो कि वह शान्ति स्वयं भी शान्ति है या नहीं।

सर्वं शान्तिः=जब सबको शान्ति मिलेगी, तब तुझको भी शान्ति मिलेगी।

ब्रह्म शान्तिः=जब ईश्वर की दया और शिक्षा शान्त होगी, तब सबको शान्ति मिल सकेगी।

विश्वे देवाः शान्तिः=शिक्षा तब शान्त होगी, जब शिक्षा के विधाता शान्त होंगे।

ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः=शिक्षा के विधाता विद्वान् तब शान्त होंगे, जब उनका खान-पान, रहन-सहन शान्त होगा।

पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः=खान-पान तब शान्त होगा। जब यज्ञ द्वारा धरती और जल पवित्र होंगे।

अन्तरिक्षं शान्तिः=जल तब पवित्र होगा जबकि अन्तरिक्ष को पवित्र बनाया जावे जहाँ से जल आता है।

द्यौः शान्तिः=अन्तरिक्ष तब शान्त होगा, जब यज्ञ द्वारा कुछ द्युलोक को भेजो जो वह उससे अन्तरिक्ष को पवित्र करे।

देखो महर्षि का वेदभाष्य—

हे मनुष्यो! जैसे प्रकाश आदि पदार्थ शान्ति करने वाले होवें, वैसे तुम लोग प्रयत्न करो। (यजुर्वेदभाष्य भावार्थ यजु० ३६—१७)।

धर्म और अधर्म

जो पक्षपात रहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है उसी का नाम धर्म, और इससे विपरीत जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं। —ऋषि दयानन्द

आर्यसमाज का लक्ष्य

श्री शिवपूजनसिंह 'पथिक'
कपूर ऐलन ब्रांच फ्लेक्स आफिस, कानपुर

आर्यसमाज क्या चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत लेख में सरल और हृदय ग्राह्य ढंग से प्रस्तुत किया है। सभी को चाहिए कि पक्षपात छोड़ आर्यसमाज के उद्देश्यों पर विचार कर, उसकी शक्ति बढ़ा संसार के कल्याण का कारण बनें।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने आर्य समाज को स्थापित किया। यह एक सुधारक संस्था है। कई पौराणिक आर्य समाज को सम्प्रदाय, दयानन्द-मत आदि लिखते हैं, यह उनका भारी भ्रम है। पौराणिक श्री माधवाचार्य शास्त्री व श्री दीनानाथ शास्त्री ने इस प्रकार का आक्षेप किया था जिसका उत्तर मैंने अपनी पुस्तक "नीर-क्षीर-विवेक" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३१-१३२ में दिया था।

पं० रामस्वरूप शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, विद्यावाचस्पति, प्राध्यापक, हंसराज कालेज, दिल्ली द्वारा सम्पादित "आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोष" पृष्ठ ५६६ में भी स्पष्ट अङ्कित है—"समाज, सं० पुं० (सं०) सभा, २. समूह, संघः दल, समुदायः ३. आर्यसमाजः।

पुनः पृष्ठ ५१ में—"आर्य' वि० (सं०) श्रेष्ठ, भद्र। २. मान्य, पूज्य। ३. कुलीन समाज, सं० पु० (सं०) महर्षि दयानन्द संस्थापितः समाजविशेषः।" महर्षि दयानन्द जी सरस्वती व उनके द्वारा संस्थापित 'आर्यसमाज' का लक्ष्य कोई नवीन मत चलाने का नहीं था। हिन्दू समाज में जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई थीं, धर्म में रूढ़िवादिता का प्रवेश हो जाने से उसका विकृत रूप हो गया था, उसका सुधार करना था। अपने प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करना था।

आर्य समाज के दस नियमों को बनाते हुए महर्षि दयानन्द जी ने छठे नियम में स्पष्ट लिखा है कि—"संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

यह उन्नति सर्वप्रथम अपने देश की और बाद में हो सके तो और की भी होनी चाहिये।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती अपने 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः' में लिखते हैं:—"सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी। इसलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मतवाले के भ्रमाये हुए जन जिसको अन्यथा जाने वा माने उसको स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपात रहित विद्वान् मानते हैं वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ है जिनको कि मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।"

आर्यसमाज की स्थापना आर्यावर्त में हुई। अतः आर्यसमाज सबसे प्रथम आर्यावर्त और तदनन्तर तद्द्वारा निखिलविश्व के उद्धरार्थ संस्थापित किया गया।

महर्षिजी स्पष्ट लिखते हैं:—

"यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश

नहीं है, इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है।"—[सत्यार्थप्रकाश, एकादश समु०]

इसलिए सर्वप्रथम आर्यावर्त का और पश्चात् उसके द्वारा विश्वमात्र का उपकार हो। यही आर्यसमाज के प्रवर्तक का तात्पर्य था।

आर्यसमाज का लक्ष्य प्राचीनता की ओर ले जाने का है। जो कुछ प्राचीन है। वही सर्वश्रेष्ठ है। उससे अधिक उन्नति न कहीं अन्यत्र हुई है, न होगी। वेदों का प्रादुर्भाव यहीं हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति त्रिविष्टप में सबसे प्रथम यहीं हुई। यही समस्त संसार का विद्यापीठ रहा है। अतः आर्यावर्त को पुनरपि वहीं लाने का है, जहाँ था। जिससे विश्व का पुनरपि गुरु कहलाने लगे।

'उपकार' शब्द—उप+कृ+घञ्=से बना है और उसका अर्थ 'उपकृतिः' का है अर्थात् हित करने का नाम उपकार है।

शारीरिक उन्नति

आयुर्वेद के अनुसार दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या होनी चाहिये। इससे शरीर नीरोग रहता है। नीरोग रहने पर ही मनुष्य विश्व का उपकार कर सकता है। रोगी और दुर्बल व्यक्ति विश्व का कुछ भी उपकार नहीं कर सकता है।

आर्यों का भोजन सात्विक होना चाहिए। मांस, मत्स्य, अण्डा राक्षसों का भोजन है। इनसे सर्वथा बचना चाहिए।

शरीर को सर्वाङ्ग सुन्दर, बलशाली, दृढ़, स्वस्थ बनाना चाहिए।

आत्मिक उन्नति

शुभ कर्मों द्वारा ही मनुष्य आत्मिक उन्नति कर सकता है। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर फल भोगने में परतन्त्र है। महर्षि पतञ्जलि कृत "योग दर्शन" में बतलाए अष्टाङ्ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) द्वारा ही मानव आत्मिक उन्नति कर सकता है।

सामाजिक उन्नति

सामाजिक उन्नति से तात्पर्य अपने परिवार और आर्य समाजस्थ लोगों के समाज से ही अभिप्रायः नहीं है परन्तु संसार की उन्नति से तात्पर्य है।

आर्य समाज का सामाजिक कार्य विश्व-विदित है। आर्यसमाज के गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, दयानन्द महाविद्यालय, अनाथालय, विधवा आश्रम, कन्या पाठशाला का भारतवर्ष ही नहीं वरन् उसके बाहर भी जाल-सा बिछा हुआ है।

बाढ़, भूकम्प, अकाल-पीड़ितों की सेवा करने में आर्यसमाज अग्र रहता है। पूर्वी पाकिस्तान के पापियों द्वारा पीड़ित हिन्दुओं की सेवा इस समय आर्य समाज जी-जान से कर रहा है।

गोरक्षा

महर्षि दयानन्द जी व आर्यसमाज गोमाता के भारी भक्त हैं। उन्होंने "सत्यार्थप्रकाश" व "गोकरुणानिधि" में गोरक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया है। वेदों में गौ को 'अदिति' व 'अघ्न्या' कहा गया है जिनका अर्थ न मारने योग्य है।

मातृभाषा:—आर्यसमाज आर्यावर्त के लिए मातृभाषा का स्थान आर्य भाषा (हिन्दी) को देता है। महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने अपने सारे ग्रंथों को आर्य भाषा में लिखकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा की ओर निर्देश किया है।

ईश्वरीय ज्ञान:—आर्यसमाज केवल चार संहिता भाग को ही ईश्वरीय ज्ञान मानता है। शेष ग्रन्थ ऋषि कृत हैं। यदि वे वेदानुकूल हैं तो मान्य हैं, अन्यथा नहीं।

त्रैतवाद:—आर्यसमाज ईश्वर, जीव, प्रकृति को प्रवाह से अनादि मानता है। इसका प्रमाण ऋ० १/१६४/२० है।

वर्णाश्रम: —वर्ण और आश्रम गुण कर्म की योग्यता से माने जाते हैं।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास ये चार आश्रम हैं। ये चारों आश्रम वैदिक हैं।

(१) इस प्रकार आर्यसमाज का लक्ष्य, इस भारतवर्ष की दशा को सुधार कर उसके द्वारा विश्व का उपकार करना है।

शिक्षा का लक्ष्य ब्रह्मचर्य और गुरुकुल प्रणाली से ही पूर्ण हो सकता है।

सम्प्रति आर्यसमाज का गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर हैं।

इन गुरुकुलों के द्वारा अब तक आर्यसमाज ने सहस्रों विद्वानों को दिया है जिनमें पत्रकार, उपदेशक, लेखक, अध्यापक सभी हैं।

(२) प्राचीन-वेद शास्त्रादि ग्रन्थ तथा ऋषि प्रणाली का उद्धार

महर्षिजी ने प्राचीन वेदादि सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने पर बहुत बल दिया और उनका मत था कि "ऋषि प्रणीत" ग्रन्थों को इसलिए पढ़ाना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपात सहित है उनके बनाये ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

(३) प्राचीनता का गौरव बढ़ाना—

वेदों में सब कुछ है। अन्य धर्म इसी के आश्रय से हैं। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों की समता कोई न कर सका। इस अन्धकार के समय में ऐसी प्रकाश की बातों से विश्व स्तम्भित रह गया।

(४) बाल-विवाह की कुप्रथा को रोकना और विवाह काल की प्राचीन मर्यादा को प्रतिष्ठापित करना था—

पौराणिक लोग बाल-विवाह को शास्त्रानुकूल मानते थे। महर्षिजी ने सुश्रुत के आधार पर विवाह २५ वर्ष लड़के और लड़की का १६ वर्ष बतलाया है। बाल-विवाह के साथ-साथ अनमेल, वृद्ध विवाह का भी आर्यसमाज ने खण्डन किया। प्रौढ़ विवाह वेदानुकूल है।

(५) मानवमात्र को वेदाधिकार है—

पौराणिक शूद्र व स्त्रियों को वेदाधिकार से वञ्चित करते हैं। आद्य श्री शङ्कराचार्य जी ने शारीरिक भाष्य में इनका अनधिकार लिखा है। महर्षि दयानन्द जी ने यजु० २६/२ के आधार पर सबके लिए द्वार खोल दिया।

(६) वेद निष्कलङ्क हैं—

सर्वश्री सायण, महीधर, उव्वट, ज्वाला प्र० मिश्र प्रभृति पौराणिक के भाष्य पशुहिंसा, अश्लीलता आदि कलङ्कों के सहित हैं। महर्षि जी ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' तथा वेदों का भाष्य करके वेदों को कलङ्कित होने से बचाया।

(७) छः शास्त्रों का एकीकरण करना—

महर्षिजी के पूर्व छः दर्शनों में परस्पर भेद माना जाता था। उन्होंने उनमें परस्पर भेद हटाकर एकीकरण किया। अब बड़े-बड़े विद्वान मानने लगे हैं।

(८) सब सम्प्रदायों को एक कर उनको मूलभूत वैदिक धर्म में लाने का प्रयत्न करना है।

*

(पृष्ठ १६ का शेष)

शास्त्र का आदि कारण परमात्मा है। सत्यप्रतिपादिका कोई भी व्यवस्था शास्त्र है जिससे शासन व्यवहृत होता है। अतः भौतिक विज्ञान भी शास्त्र है और आध्यात्मिक विज्ञान को भी शास्त्र कहते हैं। संसार की रचना में भौतिक नियमरूप शास्त्र को व्यवहार में लाने वाला परमात्मा है। इन नियमों का ज्ञान भी वेद के आविर्भाव के साथ ईश्वर देता है।

(८) ईश्वर पूर्ण है। उसकी रचना का ज्ञान भी पूर्ण है। कहा भीतो है:-

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमवच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

सृष्टि में व्याप्त ईश्वरीय नियमों का समुच्चय व्यवहार पूर्ण है। उसका ज्ञान सर्गारंभ में भी ईश्वर की ओर से पूर्ण ही होता है। पूर्ण के पूर्ण को लेकर भी पूर्ण ही अविशिष्ट रहता है।

यही वेद की महत्ता है। वेद विद्या का जितना भी दान करें, प्रचार और प्रसार करें। यह ईश्वरीय ज्ञान-भंडार कभी कम नहीं होता। पूर्ण ही रहता है।

ईश्वर पूर्ण है। उसका ज्ञान पूर्ण है। उसका सृष्टि रचना क्रम भी पूर्ण है। ईश्वर की पूर्णता पर वेद ने कहा है:—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वानीव भायमृत्योरात्मानं धीरमजरंयुवानम्॥
अथर्व० १०।८।४४

इच्छाओं के वशीभूत न होने वाला परमात्मा अमृत रूप, स्वयंभू, आनंद-घन है और वह किसी भी प्रकार से न्यून नहीं है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु के भय से विचलित नहीं होता। वह विनाश रहित, सर्वतः विद्यमान, सर्वज्ञानमय पूर्ण परमेश्वर है।

दूरे पूर्णेन वसति दूरे ऊनेन हीयते। अथर्व १०।८।१५

परमात्मा परिपक्वता को प्राप्त हुये मुक्त जीवों से दूर अर्थात् उत्कृष्ट है अपरिपक्व जीव तो उसकी ओर जाता ही नहीं।

पूर्ण की सत्ता जिन भूतादि की भान्ति भ्रममात्र नहीं है। क्योंकि जिन भूत के विभ्रम में भी जिन मिश्रित अंगों का भान होता है। उनकी वास्तविक सत्ता है। इसी प्रकार से संसार में अनेक प्रकार के कल्पित ईश्वर माने जा

रहे हैं। किन्तु एक पूर्ण सत्य की सत्ता कल्पना-मात्र नहीं है। क्योंकि अपूर्ण तभी कहलाता है जब उसके साथ पूर्ण भी माना जाये। पूर्ण को नसत्‌ समा होने से ही अपूर्ण की सिद्धि सम्भव है।

(९) योगी का अन्तः प्रत्यक्ष ईश्वर सिद्धि में सबसे बड़ा तर्क है। वेद ने इस युक्ति का उल्लेख इस प्रकार से किया है कि :—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्रविश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं संचविचैतिसर्वं स ओतःप्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

यजुर्वेद

मेधावान् योगी उसे देखता है। जो हृद् देश में छिपा है। जिस ईश्वर में समस्त विश्व एक घौंसला के रूप में विद्यमान है। उसी ईश्वरीय सत्ता में उसके आधार पर ही यह जगत् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को धारण करता है। वह ईश्वर जात मात्र वस्तु में विभू और सर्वतः ओत-प्रोत है।

आत्म प्रत्यक्ष में मूलभूत कारण पुरुषार्थ है। जिसे महर्षि कपिल ने मनुष्य का चरम लक्ष्य बताकर सांख्य शास्त्र की रचना की है।

अथ त्रिविध दुःखात्यंत निवृत्ति रत्यंतपुरुषार्थः॥ सांख्य १।१।१

ईश्वर के स्वरूप वर्णन के साथ ईश्वर दर्शन से तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति ही मनुष्य का अत्यन्त पुरुषार्थ है।

वेद में कहा है कि :—

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया।
गुभ्णन्ति जि रुव्याससम्॥ ऋग्वेद ८।७२।३।

प्रलयंकारी, दुष्ट, दलनकर्ता रुद्ररूप ईश्वर को मनुष्य सूक्ष्म बुद्धि द्वारा अपने अंदर में ढूंढते हैं। जिह्वा द्वारा भी उसके आनन्द दायक गुणों का गान ग्रहण करते हैं।

(१०) आर्यसमाज का प्रथम और द्वितीय नियम ईश्वर के स्वरूप का ही विशद वर्णन करता है।

प्रथम नियम यह है कि जिसकी अब तक व्याख्या की गई है। अर्थात् "सब सत्य विद्या और विद्या से जो पदार्थ जाने जाते हैं। उन सबका आदि-मूल परमेश्वर है।

दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन कुछ विस्तार से किया गया है। जो वेद पर आधारित है।

सर्व प्रथम ईश्वर का लक्षण किया गया है जो सत्, चित्, आनंद है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में ईश्वर को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप कहा है। वह निराकार है। वेद ने उसे "अकायम्" कहा है। सर्वशक्तिमान् को वेद में सुशक्ति और अजन्मा को अज कहा है। अनन्त के लिये वेद में आनन्त शब्द आया है और निर्विकार को अच्युत कहा है। वह सनातन अर्थात् अनादि और अपूर्व=अनुपम है। सर्वाधार और सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है। वेद में लिखा है कि :—

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तंत्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिविते सधस्थम्॥

अथर्व० २।२।१

दिव्य स्वरूप परमात्मा, ज्ञान और ज्ञेय का धारक आदि मूल संसार क एकमात्र पति ही उपासना के योग्य है। उस तुझको वेद ज्ञान द्वारा आत्म प्रत्यक्ष से प्राप्त करू ँ। हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! आपको नमस्ते हो। आप सदैव दिव्य गुणों से विभूषित हैं।

परमात्मा पूर्ण है। उसका प्रत्येक गुण पूर्णतः की चरम सीमा को पहुँचा हुआ है। उसके गुण अनंत हैं। कुछ का वर्णन ही अल्प शब्दों में यहाँ हो पाया है। किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है कि :—

असित गिरि समं कज्जलं स्यात् सिन्धु पात्रे।
सुरतरुवर शाखालेखनी पत्रमुर्वी॥
लिखति यदि शारदा गृही त्वा सार्वकालम्।
तदपि तव गुणानामीश पायं न याति॥

समुद्रों के पात्र में पर्वतों को स्याही मानकर वृक्षों को लेखनी और भूमंडल को कागज समझ संसार के सब पठित देवदेवी ईश्वरीय गुणों को लेखवद्ध करना चाहें तो हे ईश! तब भी तेरे गुणों का पारावार पाना कठिन है।

विश्व में शाँति-पथ प्रदर्शक

गायत्री का जीवन में महत्व

श्री मदनमोहन विद्यासागर
(प्रेम मंदिर, नारायण गुढ़ा, हैदराबाद)

गायत्री मन्त्र वेद का सबसे प्रसिद्ध मन्त्र है। इसका महत्व और प्रचार भी दूर-दूर तक विस्तृत है। प्रस्तुत लेख में इस गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में विद्वत्तापूर्ण ज्ञान-वर्धक विवेचना की गयी है। विश्वशांति के आधार इस पावन मंत्र पर आचरण ही सब समस्याओं का एकमात्र हल है। —सम्पादक

१. विषय-प्रवेश

वैदिक सनातन धर्म—जिसको आजकल (भ्रम से) प्रचलन में 'हिन्दू धर्म'* नाम दिया जाता है—की आधार-शिला ऋक्, यजुः, साम अथर्व चार वेद हैं, जो कि मानव जाति के पुस्तकालय में, पाश्चात्य प्राच्य सभी विद्वानों द्वारा, प्राचीनतम ग्रन्थ माने गये हैं। आर्यजाति इन्हें ईश्वर-प्रदत्त मानती है। उसका विश्वास है कि मानवमात्र के कल्याणार्थ सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने इनका ज्ञान दिया। ताकि मानव इसके ज्ञान एवं धर्म द्वारा अपना सर्वांगीण विकास कर सके।

* हिन्दूधर्म या हिन्दूमत हमारे विचार में कोई चीज नहीं। 'हिन्दू' एक जाति (नेशन) का नाम है। इस जाति में भिन्न २ मतों अर्थात् मज़हबों वाले लोग रह सकते हैं। इस हिन्दू शब्द से वर्तमान में कही जाने वाली जाति का प्राचीन नाम 'आर्य-जाति' है।

वेदों का सार प्राचीन-अर्वाचीन विद्वानों ने 'गायत्री मंत्र' को कहा है। इसीलिये इसके जाप व अनुष्ठान से 'परम=पुण्य महाकल्याण= भवसागर-तरण' माना जाता है। और धार्मिक आप्तविद्वानों तथा भक्तजनों में यह 'तारकमंत्र' नाम से प्रसिद्ध है।

२. 'गायत्री-मंत्र' शब्द का अर्थ

यजुर्वेद के अत्यन्त प्राचीन भाष्य 'शतपथ-ब्राह्मण' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ के अनुसार 'गय' शब्द का अर्थ प्राण है। ऐसा ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में स्वीकार किया है। 'गय' ही 'गाय' है। 'त्राण' शब्द का अर्थ रक्षण होता है। यह 'गायत्री' शब्द 'गय (=गाय) + त्राण' इन दोनों शब्दों के मेल से बना है; जिसका अर्थ हुआ 'प्राणरक्षण'। मन्त्र शब्द का अर्थ होता है 'मनन' विज्ञान (साइन्स), विद्या, ज्ञान'।†

इस शब्द-निर्वचन से स्पष्ट हुआ कि 'गायत्री-मंत्र' में वह विद्या या रहस्य वर्णित होना चाहिये, जिससे किसी व्यक्ति, कुल, मानव-समाज एवं प्राणि-मात्र की प्राण रक्षा हो सके; वे सदा सुखानन्द भोग करते रहें; तथा इतने समर्थ बने रहें कि प्रपंच से अपने-अपने स्थान पर ठीक बैठ अपने योग्य कार्य का उचित निर्वाहन कर सकें। इस प्रकार 'गायत्री-मन्त्र' इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्राण-रक्षक-विद्या', 'जीवन विज्ञान' या 'साइन्स ऑफ लाइफ'। यह भी समझ लेना चाहिये कि यह 'प्राणरक्षा' केवल मानव-जाति की नहीं, अपितु समस्त 'जीवित जागृत प्राणि-मात्र' की है। जीव चाहे किसी भी योनि में क्यों न हो, उसके रक्षण एवं पूर्ण विकास का उचित अवसर उसे मिलना चाहिए। उसका युक्तियुक्त उपाय उसे बताया जाना चाहिये। इसकी वैज्ञानिक व्यवस्था होनी चाहिये।

---

* सा हैषा गायत्री, गयांस्तत्रे प्राणाः वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्ग-यांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम। श० १४।८।१५।७।

† मंत्रो मननाद्वा। देखो निरुक्त।

३. जीवन-रक्षा

परमेश्वर ने इस जगत् में पिछले किये कर्म का फल भोगने और नये कर्म करने के लिए जीवात्मा को भेजा है। जीव, पिछली फसल काटने और नये बीज बोने के प्रयोजन से मानव देह धारण करता है। वह पुराणों में वर्णित ८४ लाख योनियों में इसीलिए आ-जा रहा है। यही उसकी जीवनधारा है। जो कुछ भी वह कर रहा है, उसके आधार में 'जीवनरक्षा' 'प्राणों का त्राण' यही भाव निहित है। सबल, निर्बल-धनी-निर्धन, मूर्ख विद्वान्, कोई भी क्यों न हो अपने प्राणों का नाश नहीं चाहता। नाना रोगों से संतप्त व्यक्ति भी प्राणों के मोह को नहीं छोड़ता। इस जीवन की रक्षा के लिये मनुष्य न जाने कितने-कितने भयानक कृत्य करता है? कितने अनुचित उपायों का भी अवलम्बन करता है? आश्चर्य है कि सहस्रों बार 'नैतिक मृत्यु' हो जाने पर भी वह अपने जीवन की रक्षा चाहता है! यही दशा जातियों की है। जब भूतल पर बहुत सी (मानव-समुदायरूप) जातियाँ विकसित हो जाती हैं, तब वे भी अपने स्वार्थों से प्रेरित हो एक दूसरे के भयानक विनाश पर तुल जाती हैं। एक जाति दूसरी जाति के सब अधिकारों का अपहरण करने पर कटिबद्ध हो जाती है। उस समय न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म कोई पूछता नहीं। इसके मूल में भी वस्तुतः जीवनरक्षा का भाव ही प्रेरक-हेतु होता है। एक जाति अपने जीवन को चिरस्थायी बनाये रखने के निमित्त ही ऐसा करती है। जब यह भाव पूर्ण रूप से स्वार्थमय हो जाता है, उस समय फिर भूतल पर 'रक्त-प्लावन' होने लगता है, बड़े-बड़े महाभारत मचते हैं। यह चक्र चलता ही रहता है। यह सत्य है कि इस संघर्ष में 'योग्यतम' की विजय होती है, असमर्थ दुनियां के तख्ते पर से मिटा दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया में पक्की ईंटें बनी रहती हैं और कच्चे घड़े फूट जाते हैं।

४. सुखाभिलाषा

यह 'जीवन-रक्षा' क्यों? संसार में इस सब आन्दोलन एवं संघर्ष का क्या कारण? जीवनेच्छा का मूल प्रेरकहेतु क्या है?

इसीलिये कि सब प्राणी सुख चाहते हैं। यही नहीं कि मानव अपितु संसार में ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा कि प्राणिमात्र ही आनन्द का इच्छुक है। इसलिये उसमें जीवनेच्छा बलवती होती है। यही सुख-प्राप्ति की अतिशय अभिलाषा जब स्वार्थ का रूप धारण कर लेती है, तब भयंकर उत्पात मचा देती है। मानव हृदय पर से परहित भावना का आवरण हट जाता है और निज हित साधन में मनुष्य भयानक रूप में लीन हो जाता है।

इस विषय में यह भी स्मरण रखनी चाहिए कि सुखप्राप्ति (जिसे आर्य दार्शनिक परिभाषा में अभ्युदय और निःश्रेयस् नाम दिया है) जो जीवन-रक्षा की भावना में मूल प्रेरकहेतु है, वह बिना बुद्धि-विकास के प्राप्त नहीं हो सकती है। चाहे कोई जाति या समाज हो और चाहे कोई व्यक्ति विशेष हो, बिना बुद्धि-वभव के जीवित नहीं रह सकते। इसीलिए बुद्धिमान् जनों ने कह दिया—"जिसके पास बुद्धि है, बल उसी में रहता हैं। बुद्धिहीन व्यक्तियों में बल कहां होता है ?" *

५. सुख की बाह्य परीक्षा

यद्यपि सुख के दार्शनिक विवेचन करने का यह प्रसंग नहीं (और ऐसा करने के लिए स्थान भी बहुत अपेक्षित है) तथापि दो चार शब्द इसके सम्बन्ध में लिखना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना विषय का बोध अर्थात् गायत्री के रहस्य का उद्घाटन कठिन है। उसके आन्तरिक लक्षण पर कुछ नहीं कहना। यहां तो उन निर्देशों, चिन्हों, परीक्षाओं का प्रतिपादन संक्षेप में कर देना है, जिनसे सुख का स्थूल स्वरूप स्पष्टतः समझ में आ सके।

यह भूल कर भी नहीं समझना चाहिए कि 'दुःखनिवृत्तिमात्र' ही सुख है। दुःखनिवृत्ति हो जाने पर (ज्ञानद्वारा) सुखप्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। दुःख का अथवा दुःख के हेतुओं का अभावमात्र या विनाश 'सुख' नहीं है। दुश्मन का सामने से चले जाना मात्र विजय

---

* बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

या स्वराज्य स्थापना नहीं; उसके पश्चात् जब एक न्यायपूर्ण शासन प्रणाली सर्वोदय के निमित्त चालू हो जाती है, तभी सच्चे अर्थों में स्वशासन प्रतिष्ठा मानी जा सकती है। यही नियम सुख के विषय में लागू होता है।

दुःख का विरोधी सुख है। इस दुःख के तीन रूप हैं—"भूख, वेकारी और गुलामी" अर्थात् बुभुक्षा, (क्षुत्पिपासा), नैष्कर्म्य (कर्म हीनता, आलस्य+दरिद्रता) तथा पराधीनता या दासता। दुःख की चोट को हृदयंगम करने के लिए मानव की दासता, दरिद्रता, व क्षुधा को देखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को इन तीनों को संसार से उठाना अपने जीवन का महत्वपूर्ण भाग बना लेना चाहिए। इनको मिटाना ही संसार में सुखशान्ति सम्पादन करना है।

(क) बुभुक्षा

लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि—'पापी पेट ही अधिकांश दुःखों का मूल है।* भूखा जो कर वैठे, सो थोड़ा है। पंजाब में एक कहावत है 'पल्ले पइयाँ रोटियाँ, ताँ सब्बे गल्ला मोटियाँ; पेट में रोटी हो, तो सभी बातें अच्छी लगती हैं। 'पल्ले नहीं रोव्यिाँ, ताँ सब्बे गल्लां खोटियां,' भूखे की सब बातें खोटी मानी जाती हैं।† 'जिसके घर भरे हों दानें, उसके कमले भी स्याने। पेट की आग मनुष्य के मस्तिष्क को भी उष्ण कर देती है, जिसमें मानवता ही भस्मीभूत हो जाती है। दुनियां में भूखा रहे सूखा, भरा रहे हरा। संसार में पाये जाने वाले सब दुःखों व अधिकांश पापों का प्रधान कारण यही भूख है।

यह भूख (तथा प्यास) दो प्रकार की होती है। शारीरिक तथा मानसिक। हो सकता है कि एक के पास खाने-पीने का सामान पर्याप्त मात्रा में हो, पर उसके पास जिज्ञासारूपी भूख को निवारण करने का

* "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"

† कमले=मूर्खसन्तान, स्याने=बुद्धिमान्।

भोजन न हो, वह भी दुःखी ही रहेगा। वह अपने को अतृप्त सा, खोया सा महसूस करेगा। कइयों का, विशेष करके कम्यूनिस्ट भाइयों का, यह कहना कि यदि सबको 'रोटी कपड़ा व कोठरी मिल जावे, तो 'शान्ति सुख' की स्थापना हो जावे, पूर्णतः ठीक नहीं। मनुष्य ज्ञानवान प्राणी है। प्रकृति को देख उसके मस्तिष्क में विक्षोभ उत्पन्न होता है। यह उसकी बौद्धिक या आध्यात्मिक भूख है, इसकी शान्ति भी परम आवश्यक है। आर्यशास्त्रकारों ने 'अन्न ब्रह्म' की उपासना सबसे पूर्व करने को कहा तो अवश्य है, पर अन्तिम सुख प्राप्ति के लिए 'शब्दब्रह्म' की उपासना भी साथ-साथ आवश्यक बताई है। वहीं तक अटके रहना पूर्णसुख प्राप्ति का साधक नहीं है। 'रोटी कपड़ा कोठरी' उसकी शारीरिक 'कामनाओं' को पूर्ण कर सकती है। पर 'मानसिक कामनायें' भी हैं, जिनकी तृप्ति आवश्यक है। मानसिक से हमारा अभिप्राय बौद्धिक—आत्मिक प्रवृत्तियों से है।

(ख) नैष्कर्म्य

दूसरी चीज है बेकारी। इसके भी मोटे तौर पर दो रूप हैं। एक तो काम न मिलने से बेकारी रहना। साधारण लोग इतने को ही बेकार होना समझते हैं। दूसरा, पैसा पास होते हुए हाथ पर हाथ धरे या मक्खी मारते रहना भी बेकारी में ही गिना जाता है। इसी को कर्महीनता कहते हैं। कर्महीन बैठना घर बैठे शैतान को न्योता देना है। कर्महीन पुरुष मानो नरक का मार्ग अपने लिये स्वयं ही बना लेते हैं। पण्डित नेहरू का 'आराम हराम है' का नारा इन कर्महीनों के विरुद्ध ही था। बोलचाल की भाषा में इस बेकारी को निकम्मापन कहते हैं और ऐसे व्यक्ति निकम्मे या निठल्ले कहे जाते हैं। किसी भी स्थिति में क्यों न हो, बिना कार्य के रहना बेकारी है। हम तो इसे भी बेकारी समझते हैं कि मनुष्य के पास किसी करने योग्य कार्य का न बचना अर्थात् कार्य समाप्ति।

वैदिक आदर्श तो यह है कि—"मनुष्य कर्म करते हुये ही सौ वर्ष

तक जीने की इच्छा करे।"* क्योंकि निरन्तर कर्म करने वालों पर ही देव प्रसन्न होते हैं, उन्हें ही दिव्य शक्तियाँ मिलती हैं। आलसी को कौन पूछता है? 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशान्ति मुखे मृगा।' प्रयत्न से ही सब मनोरथ सिद्ध होते हैं। पराक्रमी सिंह के मुख में भी पशु स्वयं जाकर गिर नहीं पड़ते।

वेद में, मनुष्य को सौ हाथों से परिश्रम करने को कहा है,‡ यद्यपि उसके दो ही हाथ हैं। परन्तु यदि दो हाथोंवाले मनुष्य के लिये सौ हाथों से कमाना (अर्थात् अपने जीवन योग्य कार्य का निर्वाहण) लिखा है तो परोपकार सहस्र हाथों द्वारा करने को कहा है। इस आदर्शवाला मनुष्य क्योंकि कभी बेकार होता नहीं; इसलिये सदा सुखी रहता है। नाना प्रकार की दुर्भिक्षादि आधि-व्याधियां दरिद्री आलसी मानवों के पास ही आती हैं।

प्राचीन काल में हमारे पूर्वज आर्यों के सदा विजयी रहने का यह भी एक कारण था। उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था द्वारा समस्त जाति को उसकी योग्यता व सामर्थ्य अनुकूल कार्य दे दिया था। इसीलिये यहां न चोरी थी, न दुर्भिक्ष था, न व्यभिचार था। वर्तमान में भारतीयों का (विशेषत: आर्य हिन्दुओं का) जीवन हर प्रकार से कर्महीन है। बहुत सारे तो जीवन को चलाये जाने योग्य कर्म (नौकरी) न मिलने से दु:खी हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे हैं, जिन्हें धन, जमींदारी होने से करने योग्य काम नहीं मिलता। तीसरे (जिसमें पचास प्रतिशत भारतीय हैं) बहुत सारे व्यक्ति ऐसे काम को करते हैं, जो किसी भी प्रकार से सुख देने वाले नहीं हैं। हमारे जीवन का बहुत बड़ा भाग उन व्यर्थ के कामों में भी नष्ट हो रहा है। ऐसी सब स्थितियाँ कर्महीनता की दशा में ही हैं। क्योंकि इनसे भी हमें कष्ट, बाधा एवं अपमान ही मिल रहा है।

---

* कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: (यजुर्वेद)

‡ "शतहस्त समाहर सहस्रहस्तसंकिर (ऋग्वेद)

(ग) पराधीनता या दासता

तीसरी चीज दासता है। साधारणतया दासता का अर्थ लोग एक जाति का दूसरी जाति के नीचे होना समझते हैं। यह भी किसी अंश में ठीक है; परन्तु पूरे तौर पर नहीं। हमें तो इसका सच्चा व्यापक अर्थ अपने सामने रखना चाहिए। एक स्वतन्त्र समझे जाने वाले देश में भी यदि व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास का उचित अवकाश नहीं, वहाँ भी दासता ही है। रशिया में प्रजा-स्वातन्त्र्य के नाम पर यदि धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वालों पर अत्याचार होता था, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, तो इसे कौन बुद्धिमान् पूर्ण स्वतन्त्रता कह सकता है? वहां पहले यदि धार्मिक दासता थी, तो पीछे राजनैतिक हो गई। हम रशिया सम्बन्धी पुस्तकों में पढ़ते हैं कि वहाँ धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वालों को नौकरी नहीं दी जाती थी। क्योंकि मानव इस प्रकार की पराधीनता भी सहन नहीं कर सकता; इसलिये अब रशिया में पुनः धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वालों के लिये सुविधायें देना प्रारम्भ हो गया है, चर्च खुलने लग गये हैं। अखबारों से पता चला है कि वहाँ सत्तर प्रतिशत जनता ईश्वर को मानने वाली हो गई है और प्रतिदिन उनकी संख्या बढ़ती चली जा रही है।

विचार-स्वातन्त्र्य व लेखन-स्वातन्त्र्य, आहार-विहार-निवास में यथोचित सुरक्षा तथा स्वात्म-निर्णय का निर्बाध अधिकार ये स्वाधीनता की वास्तविक कसौटियां हैं।

साथ ही दासता के दो और पहलू भी सदा ध्यान में रखने चाहियें। पहला मानसिक दासता है। जैसे भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के पन्द्रह वर्ष बीत जाने के बावजूद भी मानसिक दासता का भयानक तांडव नृत्य अभीतक हो रहा है। यह राजनीतिक-पराधीनता से भी अधिक भयानक व दुःखदायी दशा है क्योंकि दीर्घकालीन पराधीनता का कारण यही होती है। यही कारण है कि एक जातिं दूसरी जाति को दास बनाने के

लिए, उसकी भाषा, सभ्यता, आचार-विचार, धर्म आदि सबका विनाश कर देती है। उस समय पराधीन जाति में 'अपनेपन' का भाव ही नष्ट हो जाता है। उसके अन्दर अनुकरण की भावना बड़ी तीव्र हो जाती है। परदेशी शासन हट जाने पर भी वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहती है। क्या हमारे देश की यह दशा नहीं है? हमने अपनी भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार, धर्म, सभ्यता, साहित्य का सर्वथा परित्याग करदिया है।

इसका दूसरा पहलू सांसारिक दासता है अर्थात् हम विषय-भोगों के इतने अधिक आधीन हैं कि जीवन भर सत्कार्य करने का अवसर ही नहीं मिलता। बलवती इन्द्रियों के वश में चले जाना, मन के चलाये चलना, आत्म हनन करना ये भी पराधीनता के ही लक्षण हैं। 'इन्द्रियजय' राज्य का मूल आधार है। इसकी सचाई को साधारण लोग नहीं समझते। जो अपने पिण्ड में 'स्वराज्य=स्वशासन' नहीं चला सकता, वह ब्रह्माण्ड में स्वराज्य की स्थापना कैसे कर सकता है?

पराधीन देश 'शमशान भूमि' है, जठराग्नि जहां लाखों का दाह करती है; कर्महीनता जहाँ किसी को उठने नहीं देती; दासता वहाँ सबका मुख बन्द किये रहती है। इस भ्रम में भी पाठकों को नहीं रहना चाहिये कि विदेशी शासन के उठ जाने से ही पराधीनता नष्ट हो जाती है। जब तक देश में वर्गों का झगड़ा रहता है, एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है, तब तक वहाँ स्वतन्त्रता का वायुमण्डल पैदा ही नहीं हो सकता। स्वाधीनता वहीं मानी जाती है, जहाँ सबको अपने शारीरिक व मानसिक पोषण का पूरा अवकाश मिले; जहां मनुष्य अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक सब प्रकार की समस्याओं का हल विना आन्तरिक तथा बाह्य बाधा के कर सके।

दासता शब्द के विषय में एक बात और कहनी है। यह उस दशा का नाम है जिसमें क्षीणता रहती है, जिस में सब प्रकार का अपक्षय होता है। क्योंकि पराधीनता होने पर एक व्यक्ति या जाति का सर्व विध अपक्षय=दासभाव होता है, इसलिये मुख्यतः राजनैतिक दृष्टि से पराधीन दशा का नाम दासता कहा जाता है।

ये तीन दुःख के रूप हैं। इनके अत्यन्ताभाव का नाम अप-वर्ग, मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष है, वे दुःख चाहे किसी प्रकार के क्यों न हो? इस संसार में जीवित दशा में जब हम सुख को प्राप्त करते हैं, तो उसे 'अभ्युदय' कहते हैं; जब अभ्युदय प्राप्त कर परलोक का अपना मार्ग सुधारते हैं, तो उस दशा को निःश्रेयस् कहा जाता है। और जब जन्म-मरण के बन्धनरूप दुःख से भी जीव छूट जाता है, तब वह मुक्त कहा जाता है।

६. विदेशी तत्व

सर्वथा नीरोग व्यक्ति को भारतीय भाषाओं में 'स्वस्थ' कहा जाता है। इसको यों भी कह सकते हैं जिसका शरीर रोगों द्वारा पराभूत नहीं होता 'वहाँ स्वास्थ्य' है। इसी प्रकार एक 'अपराजित जाति' को 'स्वतन्त्र' कहते हैं। 'स्वस्थ' 'स्वतन्त्र' दोनों में 'स्व' शब्द प्रधान है। यह 'स्व' शब्द भारतीय साहित्य में अत्यन्त सारगर्भित पद है। इसका अर्थ है 'अपनापन=निज भाव'। शरीर शास्त्रवेत्ताओं का निर्णय है कि जब मानवदेह में (उसकी निजस्थिति को कायम रखने वाले तत्वों के स्थान पर) विजातीय द्रव्य (फारेन मैटर) का प्रभुत्व हो जाता है तब वह 'अप+स्व+स्थ' हो जाता है अर्थात् जब किसी व्यक्ति के शरीर में 'स्वजातीय पोषक तत्वों' की अपेक्षा 'विजातीय द्रव्यों' का संग्रह अधिक मात्रा में हो जाता है तब उसकी 'स्व+स्थता' (अपनेपन में स्थिति) नहीं रहती। परिणामतः गड़बड़ें पैदा जाती हैं। मनुष्य सुस्त (जिस के वस में अपना आप नहीं रहता) हो जाता है। शरीर में भिन्न-भिन्न अवयवों का संगठन टूटने लगता है। साधारण भाषा में इसी स्थिति को बीमार हो जाना या अंगों का टूटना कहा जाता है। शरीर में एक प्रकार की निर्वीर्यता, शिथिलता, निष्क्रियता, जड़ता, अपने को अन्दर ही अन्दर खोखला अनुभव करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस दशा में उसकी अपनी वास्तविक स्थिति मिटने लगती है, उत्तरोत्तर जीवन में क्षीणता आ जाती है, मलावरोध हो कर शरीर का केन्द्र पेट बिगड़ जाता है। यही अस्वस्थ मनुष्य के लक्षण हैं।

१-भूख या तो लगती नहीं या सदा लगती है। भूख के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं, भूख के विषय में अव्यवस्था हो जाती है।

२-किसी भी कार्य के करने में मन नहीं लगता है। चित्त उदास सा रहता है। खाली बैठने को जी करता है। इस दशा में बेचैनी होतीं हैं। प्रकृति बिगड़ जाती है।

३-औषध और भृत्य के भरोसे से उसकी जीवन गाड़ी चलती है। परवश हो जाता है, अपने खड़े रहने की ताकत नहीं रहती।

४-जैसे तैसे स्वस्थ होने पर भी पूर्वसी उत्साहमयी दशा नहीं रहती। मनुष्य अपने को पूरा सामर्थ्यशाली अनुभव नहीं करता।

इसलिये किसी मनुष्य को यदि स्वस्थ देखना हो, तो भूख, बेकार बैठना और पराश्रित-जीवन इन तीन को हटाना आवश्यक है। इसका उपाय विजातीय तत्वों को यथायोग्य उपायों द्वारा अर्थात यदि अवसर हो, तो चीरफाड़ (हिंसा) द्वारा अथवा सौम्य उपाय=औषध प्रयोग (अहिंसा) द्वारा शरीर में से निकाल देना चाहिये।

ठीक इसी प्रकार एक देश व जाति की दशा होती है, जब उसमें विदेशी शक्तियाँ किसी भी रूप में आकर अपना प्रभाव जमा लेती हैं। इस जाति का 'नाभिकेन्द्र' बिगड़ जाता है, जाति के अंग (भिन्न २ सम्प्रदाय, संस्थायें एवं वर्ग) टूटने लग जाते हैं (देश मे फूट पड़ जाती है)। उस देश का जातीय चरित्र दूषित हो जाता है। तब,

१ यह जाति भूखी मरने लगती है। भयानक अन्न संकट हो जाता है। अराजकता भी छाने लग जाती है।

२ बेकारी छा जाती है, निकम्मापन, आलस्य और प्रमाद जातीय जीवन में भर जाते हैं।

३. बिना दूसरों की सहायता के जीना कठिन समझती है। हर बात में दूसरे की मुहताज बन जाती है। ऋणग्रस्त हो जाती है। भृत्य की तरह दूसरों के शासन में रहने की प्रकृति व अनुसरण बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जाति का भयानक नैतिक पतन हो जाता है।

४. विदेशी शक्ति के चले जाने पर भी वह कुछ समय तक सम्भल नहीं पाती ग्रौर कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सब व्यवस्था उखड़ी सी प्रतीत होती है।

इस लिये इस दशा से बचने के लिये विदेशी शक्तियों के सर्वविध प्रभाव को हटाना ग्रनिवार्य है।

इतने विवेचन से हमें यह ज्ञात हो गया है कि सुखी होने का क्या चिन्ह है ? इसकी निदर्शक एक त्रुटिशून्य कसौटी ऊपर वर्णन की गई है। जिस पर इन तीन भयानक पिशाचों की मार नहीं पड़ती, वही सुखी है। जिस देश को ये तीन भूत नहीं चिपटते वहीं पर सुखसमृद्धि की छटा छिटकती है।*

७. मन्त्रार्थ

इसीका रहस्य इस गायत्री-मंत्र में उत्तमरीति से बताया गया है इसमें 'भूर्भुवः स्वः' ही सब कुछ है। यही 'मास्टर की' (Master Key) है।

इसके दो भाग हैं, 'भूर्भुवः+स्वः।'

'स्वः' शब्द का ग्रर्थ सुख होता है। यह एक विशेष वैदिक परिभाषा है, जिसका ग्रभिप्राय 'ग्रानन्द' व 'ग्रात्मविभोर होना' है। इसी से 'स्वर्ग' शब्द बना है, जिसका ग्रर्थ सुख को जाने का मार्ग व स्थिति है। 'स्वर्लोक' का ग्रर्थ है—"वह स्थान व दशा जहां पूर्ण ग्रानन्द की उपलब्धि हो=पराकाष्ठा के सुख की ग्रनुभूति हो।" इससे मिलते जुलते लोक भाषा के 'स्व' शब्द का ग्रर्थ 'ग्रपनापन', 'निज' है। तत्व-ज्ञानियों ने बताया है कि "किसी वस्तु पर ग्रपनापन सुख देता है। दूसरे का ग्रधिकार दुःख देता है,"* ग्रर्थात स्वभाव ही स्वर्भाव-सुख है, पर-भाव दुःख है। इसीसे 'स्वतन्त्रता', 'स्वाधीनता', 'स्वराज्य', 'स्वदेश',

*शिव के हाथ में त्रिशूल रहता है। शिव=मंगलमय ग्रच्छा भला, शान्त। वही व्यक्ति शिव हो सकता है जो कि इन तीनों को ग्रपने वश में रखता है।

'स्वशासन' आदि शब्द बने हैं। मनुष्य इनकी कामना इसी भावना से करता है, क्योंकि उसे इनसे 'सुख शान्ति की प्राप्ति' की आशा होती है।

'भूः' शब्द का अर्थ 'होना' है क्योंकि यह 'भू सत्तायाम्' धातु से बना है जिसका अर्थ सत्ता, एक्जिस्टेंस, अस्तित्व है। इसका अर्थ भूमि पृथिवी आदि भी है। इसमें सब भौतिक तत्व अन्तर्निहित हैं। जो भी 'सत्तावान पदार्थ' हैं उन्हें 'भू' वर्ग में रक्खा जा सकता है। इस प्रकार यह एक विशेष पारिभाषिक संज्ञा बन गई है, जो कि 'प्रत्यक्ष दृश्यमान भौतिक प्रपंच' के लिये प्रयुक्त होती है। 'भू लोक' का अर्थ पृथ्वी तथा तत्सम्बन्धी पार्थिव पदार्थ हैं। हम इसे यों भी कह सकते हैं कि पंचभूतात्मक सत्तावान् पदार्थ-समुदाय 'भूवर्ग' में आ जाता है।

'भुवः' शब्द भुव धातु से बना है, जिसका अर्थ 'अवकल्कन' है। अवकल्कनं चिन्तनम्‡। चिन्तन शब्द का अर्थ यदि व्यापक तौर पर लें तो चेतना कल्पना, ज्ञानविज्ञान, तत्वबोध, विद्या, नागरिकता, संस्कृति, सभ्यतादि हैं। एक व्यक्ति का 'चिन्तन' उसका ज्ञान सोची समझी बात ही हो सकता है। एक जाति का चिन्तन उसका साहित्य उसकी भाषा धर्मादि ही हो सकते हैं।

अब आइए, इन तीन शब्दों की परस्पर संगति लगावें। यदि किसी को 'स्वः' को प्राप्त करना हो, तो उसे क्या करना चाहिए? 'भूः+भुवः' की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। सुख के मूल ये ही दो हैं। एक व्यक्ति सुखी है, इसका विश्लेषण यदि करें, तो इस रहस्य का पता चल जायगा। एक पहलवान भौतिक तौर पर अर्थात् शारीरिक

---

* "सर्वमात्मवशं सुखं, सर्वं परवशं दुःखम्"।

क्योंकि 'स्वभाव' (आत्मवशता) ही 'स्वर्भाव' (सुख की दशा) का वास्तविक कारण है, इसलिये वहां हम 'स्व' (सर्वनाम) तथा 'स्वः' (अव्यय) को मिलाकर अर्थ कर रहे हैं। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से 'स्व' तथा स्वः' दो भिन्न पद हैं।

‡ भुवोऽवकल्कने। अवकल्कनं मिश्रीकरणमित्येके, चिन्तनमित्येके।

दृष्टि से पर्याप्त स्वस्थ है, परन्तु मानसिक या बौद्धिक विकास में बहुत पीछे है। वह भी धोखा खा जाता है, उसकी सदा दुर्गति होती है। एक व्यक्ति बड़ा भारी पंडित है, पर जीवन भर वैद्य जी की दुकान के चक्कर लगाता है; वह भी सबसे पिटता है स्पष्ट है कि पहलवान और पण्डित दोनों ही पूर्ण रूप से सुखी नहीं। सच्चे अर्थों में वही व्यक्ति सुखी हो सकता है, जो शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार से स्वस्थ है। इसी को साधारण भाषा में यों कहेंगे जिसकी शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति का विकास हुआ है, वही वस्तुतः पूर्ण रूप से सुखी है; क्योंकि उसे कोई दबा नहीं सकता, उसे किसी का आश्रित नहीं होना पड़ता। वह पूरा 'स्वावलम्बी' होता है; पराश्रित नहीं रहता इसलिए पददलित भी नहीं हो सकता।*

अब इसी को वैदिक शब्दों का रूप दें तो गायत्री का भाव अर्थात् 'प्राणरक्षण का उपाय' हमारी समझ में सरलता से आ जायेगा। जिसका भूः (शरीर) तथा भुवः (चिन्तन बुद्धि) ठीक है वही स्वः (अथवा स्व अर्थात् सुख तथा आत्मवशता) का अधिकारी है, उसी की जीवन रक्षा होती है। जिसका शरीर नीरोग और बुद्धि शुद्ध है, वह कभी भी कष्ट में नहीं फंसता। उसको कोई धोखा नहीं दे सकता। उस पर कोई अत्याचार करने का साहस नहीं करता। सब उससे भय खाते हैं, मुसीबतें भी उससे घबराती हैं। जिसका बदन तगड़ा होता है और अकल ठिकाने पर रहती है, वही सच्चे अर्थों में श्रीमान् कहलाता है, स्वस्थ होता है। जिसके पास भूः=क्षात्र शक्ति अर्थात् राजनैतिक अधिकार व सैनिक शक्ति तथा भुवः=ब्राह्मबल अर्थात् सांस्कृतिक श्रेष्ठता होती है, वही स्वः=श्रीः अर्थात् सर्व ऐश्वर्य का भी योग्य अधिकारी बनता है।

---

* शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्
सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ॥
ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः ॥
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ॥

हमने ऊपर 'भूर्भुव+स्वः' के नियम को एक व्यक्ति पर लगाकर देखा। अब इसी फार्मूले को समष्टि (जाति) पर लागू करते हैं। एक जाति 'स्वःभाव' (अर्थात् सुखभाव, आत्मभाव = स्वतन्त्रता) को तब प्राप्त करती है, जबकि उसके पास 'भू' उसकी भूमि अर्थात् राजनीतिक व्यवहार हों और साथ ही साथ 'भुवः' उसकी अपनी संस्कृति सभ्यता भाषा, धर्मादि हों। एक जाति नैतिकता की दृष्टि से स्वतन्त्र हो सकती है; परन्तु यदि उसकी अपनी सभ्यता, भाषा, संस्कृति नहीं तो वह भी आधी दास ही है। एक जाति यदि सभ्यता का, धर्म का ऊंचा विकास किये हुये है, पर राजनीतिक अधिकार उसके पास अपने नहीं तो वह आधी दास ही है। जैसे हमारा भारत देश जो राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर भी सभ्यता, संस्कृति व भाषा की दृष्टि से पूर्णतः 'परतन्त्र' ही है।

यदि इसको अधिक समझने योग्य भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं कि 'स्वभाग्य निर्णय' के अधिकार का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति या जाति के पास 'भूः+भुवः' दोनों हो। भाग्य शब्द भग से बना है, जिस का अभिप्राय समस्त ऐश्वर्य, कीर्ति आदि से है। यह तभी प्राप्त होता है, जबकि वे 'भूः+भुवः का सम्पादन करते हैं। एक जाति जब अपनी भूमि की उपज पर अपना अधिकार रखती है तो वहाँ भूख, बेकारी, दुर्भिक्षादि का प्रादुर्भाव होता ही नहीं। इस यातायात के अत्युत्तम पुष्कल साधनों से पूरित युग में अकाल में लाखों का अन्तिम सांस ले लेना 'भूः' के स्वाधीन न होने का ही ज्वलन्त उदाहरण है। रेडियो, फोन, मुद्रणालय के इस काल में अपनी भाषा में बोल न सकना, अपने भावों में सोच न सकना, अपनी बात सुन न सकना, 'भुःव' की पराधीनता का मर्मस्पर्शी चित्र है। इसी का दूसरा नाम 'स्वभाग्यनिर्णय' के अधिकार का न होना है

अब रहा सारे गायत्री का अर्थ।

"भूर्भुवः स्वः" । भौतिक और अभौतिक शक्तियां हमारे वश में हुई हमें सुख पहुँचावें। चराचर जगत्, जड़चेतन की आत्मीयता अर्थात्

अनुकूलता प्राप्त हो, उन सबसे सुख पहुंचे, हम उनके स्वामी बनें। इस संसार में भौतिक तथा भौविक = (अभौतिक) दोनों प्रकार की शक्तियों को स्वाधीन करके हम उनसे लाभ उठावें।

"तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गोदेवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्। (देवस्य सवितुः) उस प्रकाशमान् प्रेरक शक्ति के (वरेण्यं भगः) श्रेष्ठ तेज को हम सब (धीमहि) धारण करते हैं। (यः) जो सृष्टिकर्त्री शक्ति (नःधियः) हमारी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) सन्मार्ग में प्रेरित करती है।

प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सत्ता को स्थापित करे एवं सर्वदा सुविचार करे, ताकि उसे आनन्द प्राप्त हो। उसके लिये उस दिव्य प्रेरक शक्ति के दुःख विनाशक वरणीय तेज का हम सब ध्यान करते हैं, जो हम सब की बुद्धियों को प्रकृष्ट रूप से उस दिशा में प्रेरणा करता है।

उसकी सत्प्रेरणा से मनुष्य के अन्तःकरण की शुद्धि होती है, उसके दिल की गांठ कट जाती है और सब संशय विनष्ट हो जाते हैं। ऐसा मनुष्य ही इस ब्रह्माण्ड के 'भूः+भुवः' को ठीक २ पहिचान कर सच्चे 'स्वः' सुख का आनन्द उठा सकता है। 'ओ३म्' सर्वरक्षकप्रभु उसकी सदा रक्षा करते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि 'गायत्रीमन्त्र' का जाप या अनुष्ठान समय यापन मात्र नहीं है न वह केवल विरक्त संन्यासी, त्यागी, तारिकुद-दुनियां, गोशा नशीन फकीर के ही काम की चीज हैं, केवल ब्रह्मानन्द का (प्रचलित अर्थों में) लज्ज़तुल इलाहिया का ही साधक यह नहीं है; बल्कि यह तो वैज्ञानिक ढंग से सांसारिक समस्याओं को सुलझाता है। दुनिया और आकबत, इहलोक और परलोक, दोनों के बनाने का उपाय बतलाता है। इन्सान को मानस और शरीर की (रुहानी और जिसमानी) जिन्दगी की सब तकलीफों को दूर करने, सब मुनासिब आरामों को प्राप्त करने, सब मामलों को हल करने और सब प्रश्नों का उत्तर देने का रास्ता दिखाता है।"

८. विश्वशान्ति का चार्टर = विधान

चाहे किसी को भी सुख 'स्व' क्यों न प्राप्त करना हो, 'भूर्भुवः' दोनों का सम्पादन अनिवार्य है। आज दुनिया में भूख, बेकारी और गुलामी से त्राहि-त्राहि मची है। शान्ति व सुख प्राप्ति के लिए प्रजा अधीर है। उसका अचूक सीधा सादा उपचार यह गायत्री मन्त्र है। यदि साम्राज्यवादियों को यह समझ में आजावे कि सबको 'स्वः' (एवं स्व) चाहिए और इसके लिये सभी के पास 'भूर्भुवः' का होना जरूरी है तो मां वसुन्धरा का हृदय बींधना बन्द हो जावे, दुनिया में शान्ति छा जावे, उपद्रव सदा के लिये लुप्त हो जावें।

विश्वशान्ति की यही अमोघ औषध है। एक 'पीड़ित जाति' को उसका 'भूः' = राजनैतिक सत्ता दे दीजिए, उस पर से व्यापारिक प्रभुत्व उठा लीजिये, उसे आधा सुख आप ही मिल जायगा, उसका भूखा मरना बन्द हो जायगा। उसकी भाषा, सभ्यता संस्कृति व मत को पनपने दो आधा सुख और मिल जावेगा; उसकी नैतिक मृत्यु कभी नहीं हो सकेगी दुनिया में हर जाति को अपने देश में 'खाने पीने पहिरने बसने' तथा 'बोलने लिखने सुनने सोचने' का समान अधिकार होना चाहिए।

इसी का नाम 'स्व+तन्त्रता' या 'स्वभाग्यनिर्णय' के अधिकार का होना है। विश्व में शान्तिस्थापना करने के लिए बीसियों प्रयत्न किये जा चुके हैं, पचासों किये जावेंगे। किन्तु शान्ति स्थापना के ये सब प्रयत्न भयानक युद्धों की ही सृष्टि करते रहे हैं। कुछ बड़ी शक्तियां चोरों की तरह लूटमार का माल समझ जगत् को बांट रही हैं और उनके उपभोग की सोच रही हैं। यदि आगे भी यही बेढंगी चाल रही तो 'विश्वशान्ति' आकाश-कुसुम से अधिक कुछ न होगा।

इसीका उपाय या मूलमन्त्र यह गायत्री है। विश्व में पूर्ण शान्ति का इससे सरल व पूर्ण युक्तियुक्त उपाय और कुछ नहीं। यह सत्य सनातन है, सार्वभौमिक नियम है। यह सूत्र रूप में कहा 'महान् सत्य' है। तीन शब्दों में 'शाश्वत सुख' प्राप्ति का निराला उपाय कह दिया है। यही आर्यों की विजय का वास्तविक मूल मन्त्र है, महावाक्य है।

स्वाध्याय महत्त्व

* श्री पन्ना लाल 'पीयूष'

होते हैं स्वाध्याय से ही सर्व संशय निवृत्त
श्रद्धा बढ़ती है आत्मा जागरूक होती है।
होता सत्यवान प्राप्त स्वाध्याय से ही "पीयूष",
ईश्वर-मिलन की हिये में हूक होती है ॥

आसुरिक वृत्तियां विनष्ट करने को रुचि,
स्वाध्याय की, रामबाण सी अचूक होती है ।
स्वाध्याय से होते मूक भी हैं मुखरित महा,
योजना प्रपञ्चियों की टूक-टूक होती हैं ॥

★

वैदिक विवेक चारु-चन्द्रिका प्रसारण को,
विश्व व्योम में जो मानो मञ्जुल मयङ्क है।
जिसकी ही अनुपम आभा अवलोकनार्थ,
चातक, चकोर, सम राव और रङ्क हैं ॥

सत्य समालोचना विविध मत, पन्थों की भी,
करने को जो समर्थ निपट निःशङ्क है ।
श्रावणी के परम पुनीत पर्व पै "पीयूष".
आया 'आर्योदय' का वही "स्वाध्याय अङ्क" है ॥

वेद ही

ईश्वरीय ज्ञान क्यों ?

★

श्री मनोहर विद्यालङ्कार

(उपप्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब)

वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय इन पक्षों में बहुत से पक्ष स्वयं आ जाते हैं। आर्य-समाज की आधारभूत मान्यता है कि 'वेद' ही एकमात्र ईश्वरीय ज्ञान है। इस मान्यता की सिद्धि स्वाध्याय-शील विद्वान् लेखक ने युक्ति, तर्क और सशक्त विचारों द्वारा की हैं। आप निष्पक्ष भाव से पढ़ने पर लेखक के विचारों से सहमत होने को बाध्य होंगे, यही लेख की विशेषता है। ★

किसी विषय पर विचार करने से पूर्व उस विचार के क्षेत्र को सीमित कर लेने से एक लाभ यह होता है कि बार-बार विषयान्तर उपस्थित होने पर, सुगमता से पुनः अपने विषय पर पहुँचा जा सकता है। उपस्थित विषय को विचारणीय कोटि में स्थिर करने से एक बात निश्चित समझ लेनी होगी कि वादी-प्रतिवादी दोनों ही ईश्वर, की सत्ता को तथा उसके ज्ञान को स्वयं सिद्ध मानते हैं। अर्थात् इस विषय पर विचार करते हुए ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में शंका उपस्थित करना अथवा ज्ञान की आवश्यकता में सन्देह करना विषयान्तर होंगे।

जिसको ईश्वर की सत्ता में ही सन्देह हो, उसे इस विषय पर शंका करने का अधिकार नहीं है। उसे तो ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से शंका प्रत्याशंका करके अपने को किसी भी एक पक्ष के साथ जोड़ना होगा। अनीश्वर वादी के लिये इस विषय पर विचार समय का अपव्यय होगा। अतः इस विषय पर केवल आस्तिक ही विचार कर सकते हैं।

ईश्वरीय ज्ञान क्यों ?

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी इत्यादि गुणों से युक्त मानता है, क्योंकि इन गुणों से रहित ईश्वर को मानना एकदम व्यर्थ है।

यदि ईश्वर है, और वह इस जगत् का आदि मूल, सृष्टि तथा प्रलय का कर्त्ता, पितृतुल्य सबका रक्षक उपदेशक तथा हितचिन्तक और राजा के तुल्य अपने राज्य में सुव्यवस्था चाहने वाला है, तो उसका उपदेश तथा ज्ञान भी आवश्यक है। व्यवस्था को कायम करने के लिये विधि तथा निषेध के नियमों की व्यवस्था और उनके पालन अथवा उल्लंघन के परिणामस्वरूप शुभ व अशुभ फल के रूप में पारितोषिक तथा दण्ड की व्यवस्था अनिवार्य है।

इस व्यवस्था को कायम करने के लिए जो विधान है, वही परमेश्वर प्रदत्त उसका स्वाभाविक ज्ञान व उपदेश है। ज्ञान, उपदेश अथवा विधान के अभाव में परमेश्वर को मार्गदर्शक और हितचिन्तक कैसे मानेंगे। इस तरह यह बात सभी ईश्वर-विश्वासी आस्तिक स्वीकार करते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान होना अनिवार्य है।

विवाद क्यों ?

प्रश्न होता है कि ईश्वरीय ज्ञान की स्वीकृति में वाद-विवाद की संभावना ही क्यों रह जाती है ? जब ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वान्तिर्यामी गुणों वाला है तो उसका ज्ञान, उपदेश तथा विधान भी

पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपकारी तथा सर्वदा मार्गदर्शक होगा। जो भी ऐसा हो, उसे ईश्वरीय ज्ञान मान लेना चाहिए।

लेकिन मनुष्य स्वभाव ऐसा है कि प्रत्येक व्यक्ति; और व्यक्तियों से बना प्रत्येक समाज, प्रत्येक धर्म तथा प्रत्येक देश अपने को अधिक से अधिक श्रेष्ठ तथा पूर्ण समझता है, दूसरों को यह दर्शाता है, और उन से यही बात मनवाना चाहता है। इसी स्वभाव के वशीभूत होकर कई बार, अपनी कमी और अपूर्णता व अयुक्ति युक्तता को जानते हुए भी उसे छिपा कर दूसरों के सामने अपने को पूर्ण व युक्तियुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम है कि प्रत्येक धर्म अपने मान्य ग्रन्थ को ईश्वरोक्त मानता है, उसे ईश्वरोक्त मनवाना चाहता है, और ईश्वरोक्त ही उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

ऐसी परिस्थिति में सामान्यजन, जिसे दार्शनिक दृष्टि से विचार करने की न आवश्यकता है और न फुर्सत है, अपने जीवन यापन को सुगम बनाने के लिए अपने धर्म या सम्प्रदाय की मान्यताओं को स्वयं सिद्ध के रूप में स्वीकार करके अपनी जीवन यात्रा पर चल पड़ता है।

सृष्टि को बने जितना समय गुजरता जाता है। धर्म व सम्प्रदाय के नाम से नये-नये संगठन बनते जाते हैं। और विकासवाद के सिद्धान्त को मानकर जो जितना अर्वाचीन है, वह अपने को उतना ही पूर्ण मानने लगता है।

इस प्रकार प्रादुर्भूत नाना धर्मों में यह विवाद स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होता है और वे सब अपने को ईश्वरोक्त सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

कसौटी

ऐसा विवाद उपस्थित होने पर यह अनिवार्य हो जाता है कि उन सबमें तुलना करके यह निश्चय किया जाए कि इनमें से कौन सा

ईश्वरोक्त मानने योग्य है ? क्योंकि यदि सबको ही ईश्वरोक्त मानना हो तब तो इस विवाद अथवा विषय की आवश्यकता ही नहीं रहती।

किसी भी वस्तु पर अथवा विषय में विवाद होने पर किसी न किसी कसौटी को स्वीकार करके, उसी वस्तु या विषय की सत्यता और शुद्धता का निर्णय किया जा सकता है।

इस विषय पर हम दो कसौटियों के द्वारा निर्णय करेंगे। एक तो सामान्यतया और दूसरे इस युग के धार्मिक दृष्टि से—एकमात्र क्रान्तदर्शी भारतीय स्वामी दयानन्द के दृष्टि कोण के आधार पर।

स्वामी दयानन्द की कसौटी

क्रान्तदर्शी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ में ईश्वरीय ज्ञान को पहिचानने के लिए मुख्यतया ४ कसौटियां स्थापित की हैं।

(१) वही पुस्तक ईश्वरकृत होगी, जिसमें ईश्वर के वास्तविक, यथार्थ तथा युक्तियुक्त, गुण कर्म स्वभाव का वर्णन हो।

(२) वही पुस्तक ईश्वरकृत होगी जिसमें—

(क) सृष्टिक्रम, (ख) प्रत्यक्षादि प्रमाण, (ग) आप्त तथा पवित्रात्मा के व्यवहार के विरुद्ध कथन न हो।

(३) वही पुस्तक ईश्वरकृत मानने योग्य है, जिसमें ईश्वर के निर्भ्रान्त ज्ञान के अनुरूप भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो।

(४) वही पुस्तक ईश्वरकृत मान्य है, जिसमें ईश्वर, सृष्टिक्रम तथा जीव का वर्णन यथावत् होवे।

इन कसौटियों पर परखने पर केवलमात्र वेद ही ईश्वरीय ज्ञान कहाने के अधिकारी सिद्ध होते हैं।

कसौटी पर परख

प्रथम कसौटी का महत्व यह है कि बहुत से धर्मग्रन्थ ईश्वर का वर्णन न करके किसी मनुष्य विशेष को इतना बढ़ा चढ़ाकर, इस तरह

वर्णन करते हैं कि उसे ही ईश्वर मानने लगते हैं। ऐसी पुस्तकें एक दम विचार कोटि से बाहर हो जाती हैं।

द्वितीय कसौटी के अनुसार वे पुस्तकें विचारकोटि से बाहर हो जायेंगी, जिनमें चमत्कारों का वर्णन है, अथवा अयुक्ति-युक्त रूप में सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का वर्णन है।

तीसरी कसौटी के अनुसार वे ग्रन्थ भी इस श्रेणी से स्वयमेव निकल जायेंगे, जिनमें परमेश्वर को, अपनी मर्यादाओं का उल्लङ्घन करने वाला अनुशासनहीन शासक अथवा शुभ वा अशुभ कर्मों की मात्रा को ध्यान में न रखकर थोड़ी सी प्रसन्नता पर बड़ा भारी इनाम और जरासी नाराजगी पर बड़ा भारी दण्ड देने वाले मालिक के रूप में कल्पना की गई है।

चौथी कसौटी के अनुसार पदार्थों की संख्या को घटाने की प्रवृत्ति के प्रलोभन में फंस कर केवलमात्र एक पदार्थ ब्रह्म (परमेश्वर अथवा प्रकृति को पूर्ण कारण मानने वाले ग्रन्थ भी इस कोटि से निकल जायेंगे। इसी प्रकार जिन पुस्तकों में विशिष्ट जीवों को ईश्वर रूप में वर्णित किया गया हो वे भी ईश्वरकृत नहीं मानी जा सकेंगी।

इन ४ कसौटियों पर अच्छी प्रकार परीक्षा करने के बाद अन्य सभी पुस्तकें—

(क) सृष्टि क्रम के विरुद्ध, (ख) प्रत्यक्षादि प्रमाण के विरुद्ध, (ग) आप्त तथा पवित्रात्माओं के व्यवहार के विरुद्ध—असंभव, चमत्कारपूर्ण तथा अल्पबुद्धि लोगों के मस्तिष्कों को प्रभावित करने के हेतु विचित्र, अविश्वसनीय तथा अयुक्ति युक्त बातों का वर्णन करने के कारण, इस कोटि से बाहर हो जायेंगी और पारिशेष्यात् केवलमात्र वेद ही ईश्वरकृत कोटि में शेष रह जायेंगे।

अन्य कसौटियाँ

१. ईश्वरीय ज्ञान सबसे पुराना होना चाहिए। परमेश्वर जगत्

का कर्त्ता होने से इनसे पहिले है। शासन व्यवस्था करने से राजा के तुल्य है। सबके कर्मों का फल देने से न्यायकर्ता है। क्योंकि वह पूर्ण-सर्वज्ञ है, इसलिये उसके सारे कर्म भी पूर्ण होंगे।

यदि सृष्टि के आदि में उसके ज्ञान को न मानकर सृष्टि के मध्य में कभी भी मानेंगे तो उस ज्ञान से पूर्व वाली सृष्टि में उत्पन्न व्यक्तियों के प्रति उसे न्यायकर्त्ता सिद्ध करना असंभव हो जाएगा; और अन्यायी ईश्वर को मानने से कोई लाभ नहीं।

भारत के आस्तिक विद्वान तो प्राय: सभी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। लेकिन विश्व के सभी विद्वान् इस बात में एक मत हैं कि अब तक प्राय: पुस्तकों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। इस लिहाज़ से भी वेद ही एक मात्र ईश्वरीय ज्ञान ठहरते हैं। इसी बात को योग दर्शन ने 'सर्वेषामपि गूरू: कालेनानवच्छेदात्' सूत्र के द्वारा परमेश्वर को ज्ञान का प्रारम्भिक दाता माना है और जो भी प्रारम्भिक ज्ञान होगा, वही ईश्वरकृत होगा।

अभी तक लभ्य सब ज्ञानों में प्राचीनतम होने से वेद ही ईश्वरीय ज्ञान कोटि में आने के अधिकारी हैं।

२ ईश्वरीय ज्ञान किसी एक धर्म, देश व जाति का न होकर सबके लिये और सदा विद्यमान रहना चाहिए। अन्य धार्मिक ग्रन्थ एक-एक धर्म या सम्प्रदाय के लिये हैं। उनके निर्माण का काल इतिहास के द्वारा स्थिर किया जाता है। इसलिये उनको ईश्वरीयकृत नहीं माना जा सकता।

वेद सबके लिये हैं। सबसे प्राचीन हैं। उसमें वेद मानने वालों के लिये कोई रियायत नहीं रक्खी गई है बल्कि ईश्वर को न मानने वालों के लिये भी कोई दण्ड नहीं रक्खा गया है। वेद तो कर्म को, अमल को सबसे प्रधान मानता है। उसीके अनुसार फल देता है। इसलिये वेद ही ईश्वरकृत मानने योग्य है।

३. ईश्वरीय ज्ञान में प्राचीनतम सृष्टि के प्रारम्भ में होने से

इतिहास नहीं होना चाहिए। वेद के अतिरिक्त अन्य धर्म ग्रन्थों में तो उसके अनुयायी भी इतिहास मानते हैं। लेकिन वेद में वेदानुयायी चाहे इतिहास न मानें लेकिन दूसरे विद्वान् इतिहास में आए हुए नामों का जिक्र देखकर—इसमें भी इतिहास मानते हैं।

वेद में इतिहास से सम्बद्ध नामों का जिक्र होते हुए भी उसमें इतिहास को मानने की युक्ति के रूप में मनु का निम्न श्लोक पर्याप्त है।

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

इस युक्ति को सिद्ध या पुष्ट करने के लिए इतिहास का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। अँग्रेज, डच, जर्मन आदि जातियां अमेरिका तथा अन्य नए उपनिवेशों में जब बस्तियाँ बसाने लगे तब उन्होंने वहाँ के स्थानों के नाम अपने देश के नामों के अनुरूप रक्खे हैं। उसी प्रकार भारतीयों ने अपने प्रदेशों, नदियों के नाम वेद में आए हुए नामों के अनुरूप रक्खे। जिस प्रकार यह कहना असंगत होगा कि इंग्लैण्ड वालों ने अमेरिका के नामों को लेकर अपने यहाँ के स्थानों के नाम रख दिये हैं। उसी प्रकार भारतीय नामों को वेद में देखकर वेद में इतिहास मानना भी असंगत एवं अयुक्ति-युक्त है।

४. पूर्ण तथा ईश्वरीय ज्ञान विज्ञान द्वारा सम्मत होना चाहिये। वेद के अतिरिक्त अन्य धर्मग्रन्थों की बहुत सी मान्यताएं विज्ञान ने सृष्टि क्रम के विरुद्ध सिद्ध करदी हैं। लेकिन वेद में प्रतिपादित सिद्धान्तों या मान्यताओं में से अभी तक एक भी सिद्धान्त विज्ञान के द्वारा सृष्टि क्रम विरुद्ध सिद्ध नहीं किया जा सका है। हां यह संभव है कि बहुत से सिद्धान्तों को अभी तक विज्ञान सम्मत सिद्ध न किया गया हो।

इस प्रकार सब कसौटियों के द्वारा परीक्षा करने के बाद यही निर्णीत होता है कि केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान माने जा सकते हैं। वेद के अतिरिक्त कोई भी पुस्तक ईश्वरीय नहीं मानी जा सकती। ★

देख उसे मन भवन में,
ज्ञान चक्षु को खोल।

प्रकाशचन्द्र कविरत्न, आर्य समाज, अजमेर।

★

(दोहा)

अर्थ समझ श्रद्धा सहित, करो ओ३म् का जाप।
पाओ परमानन्द प्रिय, मिटें सकल सन्ताप॥

राम, कृष्ण, ऋषि-वृन्द ने, किया ओ३म् का ध्यान।
तज उसकी आराधना, मत पूजो पाषाण॥

माना यह जड़ मूर्ति में, भी व्यापक भगवान।
किन्तु, मूर्ति में तू कहाँ, अरे! भक्त नादान॥

विद्यमान दोनों जहां, भक्त और भगवान।
है "प्रकाश" बस हृदय ही, वह प्रिय पावन स्थान॥

निराकार सर्वज्ञ, विभु, जिस की माप न तोल।
देख उसे मन-भवन में, ज्ञान चक्षु को खोल॥

सुरगुण-रक्षा, खलों का, करने को संहार।
लेते हैं अवतार प्रभु, यह प्रसंग निस्सार।

दुष्टों की भी देह में, व्यापक हैं करतार।
कर सकते हैं वे वहीं, झट इनका संहार॥

सोचो तो वह नित्य अज, व्यापक त्रिभुवन नाथ।
क्यों आवे तन धार के, लिये सुदर्शन हाथ॥

एक ओ३म् को ध्याइये सकल प्रपञ्च विसार।
हो 'प्रकाश' भव सिन्धु से जीवन नौका पार॥

स्वाध्याय से लाभ

अपने परिश्रम से शिक्षित बनिये

★

डा० रामचरण महेन्द्र
एम० ए० पी-एच०डी०
(हरबर्ट कालेज कोटा)

ज्ञान का मार्ग किसी की बपोती नहीं है, वरन् गरीब अमीर, नीचा ऊँचा, नारी, पुरुष, बालक जवान और वृद्ध सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है।

ज्ञान प्राप्ति के क्षेत्र में केवल एक ही शर्त है। प्रभु का एक ही आदेश है। "सच्चे लगन और परिश्रम से अध्ययन करो। **"स्वाध्यायान्मा प्रमदः"** (श्रुति) हे ज्ञान के इच्छुकों, स्वाध्याय में कभी आलस्य न करो। अपने परिश्रम से शिक्षित बनो। शतपथ में लिखा है, "ब्राह्मण जिस दिन स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन वह ब्राह्मण से अब्राह्मण हो जाता है। अर्थात् ब्राह्मण की पवित्रता इसी में है कि वह सदा सर्वदा, दिन प्रतिदिन नया ज्ञान, उपयोगी ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान अर्जित करता चले। अपने ज्ञान रूपी कोष को उत्तरोत्तर बढ़ाता चले।

गीत में कहा गया है—

"स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।"

(गीता १७।१५)

याद रखिए, स्वाध्याय करना मनुष्य की वाणी का तप है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

(योग १।२८ व्यास भाष्य)

अर्थात्—स्वाध्याय से मनुष्य को योग की उपासना करनी चाहिए। योग से स्वाध्याय का अभ्यास होना चाहिए। स्वाध्याय की सम्पत्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

पढ़ना लिखना हमारे यहां धर्म का एक दृढ़ अंग माना गया है। पढ़ लिख कर ही संसार में एकत्रित ज्ञान अपने अन्दर धारण किया जा सकता है। उस ज्ञान को मन में धारण करने से ही मनुष्य सच्चे अर्थों में "मनुष्य" बनता है, कहा है—

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति"

(छान्दोग्य० २।२३।१)

अर्थात् याद रखिये मनुष्य के धर्म के तीन सम्बन्ध हैं १—यज्ञ २—स्वाध्याय और ३—दान। इनमें स्वाध्याय सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसी से हम वस्तुतः मनुष्य कहलाने के अधिकारी बनते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति हममें से प्रत्येक का जन्म सिद्ध अधिकार है। माता सरस्वती का दरबार खुला है और कोई भी व्यक्ति तीव्र इच्छा और स्वाध्याय से विद्वान् बन सकता है। अनेक व्यक्ति बिना सुविधाओं और शिक्षकों के बहुत विद्वान् हुए हैं। ज्ञान के क्षेत्र में अमर हो गये हैं।

हमारे यहाँ यह समझा जाता है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्कूल कालिजों में जाना आवश्यक है, पर यह नितान्त भ्रान्तिमूलक धारणा है।

दिन के २४ घन्टों में से यदि हम एक घन्टा बचाकर स्वाध्याय किया करें, अपनी विद्या बढ़ाने में लगायें, तो बहुत लाभ हो सकता है। समय ही मनुष्य का जीवन है। एक-एक क्षण का व्यर्थ नष्ट होना ही जीवन का नष्ट होना है।

स्वाध्याय में भी एक आत्मिक सुख है। ज्यों-ज्यों हम ज्ञान प्राप्त

करते हैं, अन्दर से एक प्रकार के बिवेकयुक्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करते हैं। गुप्त सुख का अनुभव करते हैं।

सर जान हर्शल स्वाध्याय के बड़े प्रेमी थे। ज्ञान-प्राप्ति के सुख के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा था, वह आज भी प्रेरक और उद्‌बोधक है। वे लिखते हैं:—

"भाँति-भाँति के संयोगों में मेरे साथ दृढ़ता पूर्वक रहे, मेरे जीवन में मेरे लिए सुख और आनन्द का झरना बनी रहे, जीवन के दुःख में मेरी ढाल बन जाय और जिस समय मेरे खिलाफ हवा चले तथा लोग मुझे धिक्कार देते रहें, उस समय मुझे उनसे बेपरवाह बना दे, इस प्रकार की रुचि दीजिए।

"विद्याभ्यास के धार्मिक महत्त्व को बिना घटाये मैंने यहाँ पर उसके सांसारिक लाभ के विषय में कहा है।

अहह ! विद्याभ्यास की ऊँची सांस्कृतिक रुची कैसी आनन्दमयी है और आत्म-संतोष का कैसा प्रबल साधन है।"

वास्तव में ज्ञान अर्जन ही सच्चा मनुष्यत्व है बिना विद्या के मनुष्य पशु जैसा ही है।

जान स्टुअर्ट मिल प्रसिद्ध विद्वान् हो गए हैं। वे कहा करते थे:—

"यदि हम अपना समस्त जीवन भोग विलास में, या भोगविलास की सामग्री एकत्रित करने में ही व्यय कर दें, सामाजिक सीढ़ी के चढ़ने में ही व्यतीत कर दें, तो यह मानना पड़ेगा कि हमारा यह उद्देश्य तुच्छ और निकम्मा है।"

शिक्षा उन्नति ही का अवसर देती है

जीवन उन्नति के अवसरों से भरा पड़ा है, पर यह मौके उसे ही मिलते हैं, जो सुशिक्षित समुन्नत और हर प्रकार से चौकन्ना है, मिले हुए मौके का ठीक तरह सदुपयोग करता है।

हम में से कोई भी ऐसा नहीं है जो मौके का सदुपयोग कर ऊँचा न उठ सके। जो व्यक्ति पाये हुए मौके का सदुपयोग करता है उसे भविष्य में नित नए मौके मिलते जाते हैं। हम जो सफलता और उन्नति पाते हैं, उसका आधार इस बात पर नहीं है कि हमें मौका मिलता है, बल्कि इस बात पर है कि हम मिले हुए मौके का ठीक उपयोग करते हैं।

आप गरीबी अभाव और मुसीबत से न घबरायें

आप कहते हैं, "मैं गरीब हूँ कैसे पढ़ूँ ? मैं अधिक उम्र का हो गया हूँ, मेरे लिए ज्ञान-प्राप्ति का अवकाश कहां है ? मैं सारे दिन अपनी नौकरी और व्यापार में व्यस्त रहता हूं, ज्ञान अर्जन कब करूं फुरसत नहीं मिलती।

लेकिन सच जानिये, ये व्यर्थ की शंकाएँ हैं। यदि हमारी इच्छा शक्ति हो तो हम हर अभाव और व्यस्तता में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

गुलाम से विद्वान् : एक उदाहरण

ईसप की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। सबके लिए मार्गदर्शक हैं, सैंकड़ों वर्ष बीत गये, पर आज भी उनसे नई प्रेरणा मिलती है लेकिन बेचारे ईसप को जीवन भर पढ़ने लिखने की सुविधाएं प्राप्त नहीं हुई। वे बेचारे गुलाम थे। पूरे जीवन भर उन्हें निकृष्ट नौकर की तरह दूसरे की सेवा चाकरी करनी पड़ी थी। ईसप को पढ़ने का बड़ा शौक था। एक-एक क्षण बचा कर वे परम विद्वान् बना गए थे। उन्होंने कभी समय सुविधा या अवसर न मिलने की शिकायत नहीं की थी।

ईसप कहा करते थे, "शिक्षित बनना प्रत्येक मनुष्य के अपने हाथ की बात है। केवल सच्ची लगन तथा इच्छाशक्ति की दृढ़ता की ही आवश्यकता है। ईश्वर ने मनुष्य की बौद्धिक उन्नति के साधन सर्व-सुलभ बनाये हैं। वास्तव में वे ही अशिक्षित हैं, जो शिक्षित बनने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करते हैं।

ईसप ही नहीं, पब्लीयस, साइरस और टेरन्स इत्यादि विद्वान् भी गुलाम ही थे जिन्हें हर प्रकार की मुसीबत रहती थी। फिर भी मन की सच्ची लगन के कारण उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और परम विद्वान् बने। प्रोटेगोरस नामक एक ग्रीक तत्त्वज्ञ हुए हैं। वे अपना अभ्यास का जीवन व्यतीत करने से पहले मजदूरी किया करते थे। क्लीन्थियस एक ब्रह्मज्ञानी हो गये हैं। वे विद्वान बनने से पूर्व पहलवानी में इनाम पाने का धन्धा करते थे।

प्रसिद्ध इटालियम लेखक जेली दरजी का काम करता था। इसने अपना फालतू समय बचा बचाकर ज्ञान वृद्धि की और ऐसी प्रसिद्धि पाई की वह फ्लोरण्टाइन ऐकेडमी की कौंसिल का उच्चतम अधिकारी नियुक्त किया गया था। इनका कथन था कि आजकल ज्ञान प्राप्ति के साधन बहुत सुलभ हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को समय बचा कर अपनी ज्ञानवृद्धि अवश्य करते रहना चाहिए। खराब आर्थिक स्थिति बाधक नहीं है केवल मनुष्य की इच्छा शक्ति की दृढ़ता से ही ज्ञान की कमाई संभव हो सकती है।

सुप्रसिद्ध इटालियन कवि मेटास्टालियो एक मामूली कारीगर का पुत्र था। जब वह बालक था, तो गांव की गलियों में कविता सुनाता फिरता था। धीरे-धीरे उसमें काव्य शक्तियों का विकास हुआ, और वह एक दिन कवि बन गया। उसके जीवन का सार था कि गरीबी ज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करने में कोई विघ्न नहीं है।

प्रोफेसर हीन अपने समय के जर्मन विद्वानों में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके प्रारम्भिक साल बड़ी गरीबी में व्यतीत हुए थे। उसके पिता बड़े ही गरीब थे। उन्होंने बाद में लिखा है, "आर्थिक तंगी मेरी बाल सखी है। प्रारम्भिक जिन्दगी घोर अभाव में गुजरी है। जब मेरी मां के पास अपने बच्चों को खिलाने के लिए कोई खुराक नहीं होती थी, तो उसे बड़ी आत्मग्लानि होती थी। गरीब माता के दुःखी मुख को देखकर जो विषाद मुझे होता था, वह मेरे मन पर सदा के लिए

अंकित है। मेरा पिता दिन रात सख्त मेहनत करके जो माल बनाता, उसकी ठीक-ठीक बिक्री न होने पर मेरी मां रोती झींकती शनिवार की शाम को घर आती, ऐसा दृश्य मैंने कई बार देखा है।" मैंने निरन्तर स्वाध्याय और लगन से ही विद्वत्ता प्राप्त की है।

अब्राहम लिंकन अमेरिका के राष्ट्रपति हो गए हैं। उनकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध न हो सका था। कठिनता से १२ महीने उन्होंने स्कूल की शिक्षा प्राप्त की होगी। उन्हें स्वाध्याय की शक्ति का ज्ञान हुआ। बस, उनके घर में जो थोड़ी सी पुस्तकें थीं, उन्हींका अध्ययन पूरी लगन से शुरू कर दिया। इन पुस्तकों ने उनके बाद के जीवन तथा चरित्र पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने इन पुस्तकों को ऐसी तल्लीनता से पढ़ा था कि उनकी भाषा उन्हें कंठस्थ हो गई थी।

इसी प्रकार के एक नहीं सैंकड़ों उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि स्वयं अपने आप तीव्र इच्छा द्वारा ज्ञान और विद्वत्ता प्राप्त की जा सकती है। स्वाध्याय एक तप है। इस तप में तप कर मनुष्य के दुर्गुण क्षार-क्षार हो जाते हैं और खरा सोना निखर आता है।

आप अच्छी जीवनोपयोगी पुस्तकें चुनिये और मनोयोगपूर्वक उनका अध्ययन किया कीजिए। ★★

ब्रह्मा, विष्णु महादेव नामक पूर्वज महाशय, विद्वान, दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसा ही हम सब को करना योग्य है।

—महर्षि दयानन्द

ज्योति पुञ्ज

आर्य समाज

★
पं० आनन्द प्रिय
बी. ए. एल. एल. बी.
(मंत्री म. द. स्मा. ट्रस्ट, टंकारा)

जब एक व्यक्ति को, जो महर्षि को विष देना चाहता था पकड़कर महर्षि के पास लाया गया और उनसे पूछा गया, इसका क्या किया जाय, तो महर्षि ने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। महर्षि बोले :-

"इसे छोड़ दो मैं किसी को कैदखाने में डालने नहीं आया अपितु विश्व को बंधनों से छुड़ाने आया हूं।"

महर्षि के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारत, जो विविध दासता में जकड़ा हुआ था मुक्त हो गया। महर्षि जब आये तब हम राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दासता के बन्धनों में जकड़े हुये थे।

सर्वप्रथम महर्षि ने धार्मिक, फिर सामाजिक दासता के दुर्ग पर प्रहार किया। उनका अभिमत था कि जिस देश के लोग धार्मिक एवं सामाजिक दासता के बंधन में होंगे उनका राजनैतिक अभ्युदय नहीं हो सकेगा।

महर्षि ने सर्वप्रथम "पाखंड-खंडिनी पताका" गाड़ कर धार्मिक अंधश्रद्धा के दुर्ग को ध्वंस करने का बीड़ा उठाया।

उस समय धर्म के नाम पर होनेवाले पाखंडों एवं अत्याचारों को समाप्त कर महर्षि ने वेदोक्त सूर्य प्रगटा कर ऐसी खलबली मचाई की पुराणी, कुरानी, ईसाई, मुमाई सब आत्म-परीक्षण कर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करने लगे। महर्षि ने धर्म में तर्क एवं बुद्धि को स्थान देकर विश्वास पर चलने वाले धर्माचार्यों के गढ़ों का ध्वंस कर दिया।

इसी प्रकार सामाजिक रूढ़ीवाद पर कुठाराघात कर सामाजिक क्रांतिका शंख फूंककर समाज का नव-निर्माण कर सदियों से दलित वर्गों को तथा स्त्री जाति को समाज में मानवोचित स्थान प्रदान कराया।

महर्षि की इस क्रांति के सिद्धांतों पर स्थापित आर्यसमाज नवशक्ति एवं नवजीवन का पुंज बन गया। इस क्रांति का असर हमारे राजनैतिक जीवन पर भी हुआ। और आर्यसमाज के सिद्धान्तों में रंगे हुए युवक एवं युवतियों ने अंग्रेजी शासन की नींव हिला डाली। राष्ट्रीय महासभा के आंदोलनों में तथा क्रांतिकारी दलों में तथा राष्ट्रोपयोगी प्रत्येक आंदोलन में अग्र भाग आर्यसमाजियों का ही था।

देशमें दुर्भिक्ष पीड़ितों, बाढ़ पीड़ितों एवं भूकंप से पीड़ितों की सहायता, विधवा अनाथों की सहायता, रोग प्रतिकार आंदोलनों में आर्यसमाज की सेवा स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गई।

शिक्षण द्वारा समाज का नवनिर्माण करने में आर्यसमाज के गुरूकुलों, हाई स्कूलों तथा कालजों ने जो क्रांतिकारी काम किया वह इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

मुट्ठी भर आर्यों ने अपनी शिक्षण संस्थाओं पर वार्षिक तीन करोड़ खर्चा और अरबों की संपत्ति बना डाली यह एक चमत्कार नहीं तो क्या था;

आज वेदों की संस्कृति एवं संस्कृत जो मृतप्राय हो गई थी महर्षि के आगमन के पश्चात् नये रूप में प्रगट हो कर ज्योति के पुंज के रूप में संसार को प्रकाश देने की क्षमता प्राप्त कर रही है।

आज विश्व जो शांति चाहता है इसकी दृष्टि भारत की ओर है। कारण इसी देश की सत्य, न्याय और अंहिसा की नीति संसार को शांति प्रदान कर सकेगी। आज नास्तिकता के आधार पर साम्यवाद संसार का भला नहीं कर सकेगा कारण उसकी नींव में हिंसा तथा बल द्वारा शासन का भाव है। वैदिक समाजवाद ही जग का कल्याण कर सकेगा कारण वह आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा क्रांति लाकर समाज में समानता लावेगा।

आज आर्यसमाज एक जाज्वल्यमान सूर्य के रूप में संसार का ज्योति-पुंज बन रहा है जो संसार के अंधकार को विदीर्ण कर पुनः शांति, भ्रातृ भाव, मानवता का प्रसार कर सकेगा।

जीवन के चार अंग

(धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष)

श्री नारायणदत्त "सिद्धांतालंकार"

आर्य पुरुष प्रतिदिन संध्या में ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह प्रभु हमें शक्ति और भावना दे जिस से हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकें। "धर्म क्या है", इस के लक्षण शास्त्रकारों ने भिन्न भिन्न किये हैं। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार शास्त्रकारों ने धर्म का लक्षण किया है :—

"धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मोधारयते प्रमाः"

विश्व जिन नियमों के आधार पर धरा है वह धर्म है। सब उत्पन्न होने वाले पदार्थों (प्रजा-सृष्टि) की सत्ता और संचालन धर्म के आधार पर ही हैं।

सन्ध्यामन्त्रों में सृष्टि रचना का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है कि उस प्रभु ने सर्वप्रथम 'ऋत' और 'सत्य' को प्रकट किया। ऋत शब्द "ऋत" धातु से बना है जिसका अर्थ भक्ति और गन्धन (ज्ञान) है। जिन तथ्यों के जानने से विश्व की गतिविधि और स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सके उसे "ऋत" कहते हैं। "सत्य" उन तथ्यों का नाम है जिसके आधार पर इस विश्व की सत्ता बनी हुई है। ये ऋत और सत्य ही वास्तविक विश्व धर्म हैं। ये ही वेदोक्त धर्म हैं। वेद के स्वाध्याय और उसके अनुसार वैज्ञानिक अनुसन्धान से हम इस धर्म को जान सकते हैं और प्रकाश में ला सकते हैं।

मनुष्य की जीवन यात्रा में अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए दर्शनकारों ने धर्म का लक्षण किया है :—

"यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"

जिन नियमों, आचरणों और व्रतों के पालन से हम अपने जीवन में सर्वतोमुखी उन्नति और निःश्रेयस (परम श्रेय-मोक्ष) को प्राप्त कर सकें उनका नाम धर्म है। इस लक्षण में अभ्युदय के अन्तर्गत आदर्शरूप में अर्थ और काम दोनों जीवन के अङ्गों का समावेश हो जाता है। निःश्रेयस मोक्ष का नाम है।

इस लक्षण के आधार पर अर्थ, काम और मोक्ष तीनों का मूल "धर्म" है। धर्म के द्वारा ही आदर्श रूप में अर्थ और काम उपलब्ध हो सकते हैं और धर्म के द्वारा ही मोक्ष की सिद्धि हो सकती है।

धर्म का यह लक्षण इस प्रकार का है जिससे मनुष्य असमञ्जस में बना रहता है। यह तो ठीक है कि जिन नियमों, आचरणों तथा व्रतों के पालन से अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त हो सके उसका नाम धर्म है पर प्रश्न यह है कि वे नियम, आचरण तथा व्रत क्या हैं? इसकी अन्वेषणा हमें करनी है। इस विषय में शास्त्रकार पुनः कहते हैं :—

श्रुतिः स्मृति सदाचारः स्वस्य प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्यलक्षणम्।

ईश्वरीय ज्ञान श्रुति (वेद) की आज्ञाएं धर्म की दिशा की द्योतक हैं। वेद में जीवन यात्रा के संचालन के लिए जिस प्रकार आज्ञाएं दी गई हैं उन्हें स्वाध्याय के द्वारा जानो और उसके अनुसार आचरण करो। ये वेद की आज्ञाएं ही धर्म हैं।

वेद में बहुत कुछ सूत्ररूप में और गुह्यरूप में कहा गया है। इस का विस्तार स्मृति-ग्रन्थों में मिलता है। स्मृतियों में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक अवस्था में किन नियमों, आचरणों और व्रतों का पालन मनुष्य को करना चाहिये उसका पूर्णरूप से प्रतिपादन किया गया है।

महर्षि दयानन्द मनुस्मृति को विशेष रूप से प्रामाणिक समझते थे। मनुस्मृति में भी जो समय-समय पर वेद विरुद्ध श्लोकों का प्रक्षेप किया गया है उसे अमान्य समझना चाहिये।

जहां श्रुति और स्मृति के द्वारा धर्म के विषय में समाधान न मिले वहां सत्पुरुषों के चरित्र का अनुसरण करना चाहिये। सत्पुरुषों के जीवन का अनुशीलन कर देखना चाहिये कि उनका आचरण किस प्रकार का रहा है? उन

आचरणों का श्रुति और स्मृति के आदेशों से समन्वय करके उसके अनुसार जीवन के मार्ग का निर्माण करना चाहिये। यदि फिर भी धर्म के विषय में आशंका रह जाय तो श्रुति, स्मृति और सत्पुरुषों के आचरणों का विमर्श करते हुए अपने आत्मा को अभ्युदय और निःश्रेयस मार्ग पर लेजाने के निमित्त जो प्रिय (अनुकूल) आचरण प्रतीत हो उसे धर्म समझना चाहिये।

मनुस्मृति में वर्ण-आश्रम की व्यवस्था के अनुसार मानव विकास और सामाजिक अनुशासन को दृष्टिगत रखते हुए धर्म और आचार का विस्तृत रूप से प्रतिपादन करने के साथ मनु ने मानव मात्र के लिए सर्वमान्य धर्म का लक्षण निम्नलिखित किया है —

धृतिः क्षमा, दमो अस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्याः सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

संकट के समय घबड़ाना नहीं, शान्ति के साथ संकट निवारण के लिए प्रयत्न करना "धृति" (धैर्य) कहलाता है। अपनी बुराई करने वालों से बदले की भावना न रखते हुए उनके प्रति स्नेह और सहानुभूति बनाए रखना "क्षमा" है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को बुराई की ओर से हटाकर भद्रभावना और भद्रकर्मों में स्थिर रखना "दम" कहलाता है। जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं उसे उसके स्वामी की आज्ञा के बिना अपने अधिकार में न लेना "अस्तेय" है। शरीर की जल और मन की भद्र विचारों से शुद्धि का नाम "शौच" है। इन्द्रियों को प्रलोभन के वशीभूत न होने देना, उन्हें अन्तरात्मा की आज्ञा में स्थिर रखना "इन्द्रिय निग्रह" है। विवेक "धी" वस्तु, का वास्तविक स्वरूप ज्ञान "विद्या", मन, वचन और कर्म में एक भावना "सत्य" आवेश में उत्तेजित न होना "अ-क्रोध" ये दस धर्म के स्वरूप हैं। इनके अनुसार सभी मानवों को आचरण करना चाहिये। इस के विपरीत आचरण अधर्म कहलाता है।

अर्थ

जीवन का दूसरा अङ्ग "अर्थ" है। अर्थ के बिना मनुष्य की जीवन यात्रा असम्भव है। पैदा होते ही बालक भूखप्यास के लिए रोता है। मां को उसे आंचल का दूध पिलाना पड़ता है। ज्यों २ बच्चा बड़ा होता है उसे पशुओं का

दूध, आम, फल, शाक की भोजन के निमित्त आवश्यकता रहती है । प्रत्येक मनुष्य को देहावरण के लिए ऋतु के अनुकुल वस्त्रों की आवश्यकता रहती है। वर्षा, सरदी और गरमी से बचाव के लिए घर की आवश्यकता है । बच्चों की शिक्षा देने की आवश्यकता है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति अर्थ बिना नहीं हो सकती । इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए मनुष्य अर्थ के पीछे दौड़ लगाता है। कृषि, व्यापार, सेवा और भिक्षावृत्ति आदि उपायों से अर्थ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है ।

अर्थ में अपना एक विशेष आकर्षण है । मनुष्य जितना अर्थ प्राप्त करता है उसकी उतनी तृष्णा बढ़ती जाती है । परमात्मा ने सभी ज्ञानेन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है । पड़ोसी के सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्रों को देखकर मैं चाहता हूं कि मेरे पास अपने और अपने परिवार के लिए इस से भी अधिक सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्र हों । सभी सुन्दर आभूषण मेरे पास रहें । पड़ोसी के भव्य भवन को देखकर मैं अपनी छोटी कुटिया में सन्तुष्ट नहीं रह सकता । मैं उस से अधिक भव्य भवन बनाने का प्रयत्न करता हूं । अपने भवन में सभी तरह के सुखद और ऐश्वर्यमय पदार्थ जोड़ना चाहता हूं । यातायात की सुविधा के लिए मोटर, व्योमयान चाहता हूं : इस प्रकार मेरी अर्थ कामना बढ़ती जाती है । इस अर्थ कामना को पूर्ण करने के लिए मैं अर्थ के पीछे आयुपर्यन्त दौड़ लगाता हूँ । अपनी वर्तमान अथवा जीवन कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति पर सन्तुष्ट नहीं रहता । भविष्य के लिए तथा भविष्य मे आने वाली पीढ़ियों के लिए भी अर्थ जोड़ना चाहता हूँ । इस अर्थ संग्रह में मेरी कोई मर्यादा नहीं रहती । इसका परिणाम यह होता है कि तृष्णा तो कभी जीर्ण नहीं होती मैं ही इस तृष्णा के पीछे जीर्ण हो जाता हूँ । अर्थ अनर्थ बन जाता है । मैं चाहता हूं रयीश (धनपति) बन जाऊं पर रयीदास (धन का दास) बन जाता हूं ।

आर्य पुरुष प्रार्थनामन्त्रों का पाठ करते हुए प्रतिदिन ईश्वर से प्रार्थना हैं "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" हे प्रभो ! हम सब आर्य पुरुष रयी के पति (धन के स्वामी) बन कर रहें । दास बन कर न रहें । रयीदास बन कर मनुष्य अर्थ के संग्रह के लिए सभी प्रकार के उपायों का आलम्बन करता है। जीवन के प्रथम अङ्ग "धर्म" को भूल जाता है । अर्थ संग्रह के लिए अन्य व्यक्तियों का उत्पीड़न (हिसा), असत्य चोरी आदि सभी पापों में लिप्त हो जाता

है। इस प्रकार उसकी तृष्णा को शान्ति नहीं मिलती वहां पर धर्म का परित्याग कर बैठता है। वेद में हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं :—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"

'हे प्रभो हम सुपथ (धर्ममार्ग) पर चलते हुए ही यी (अर्थ) को संयुक्त करे।'

अर्थ से जीवन का सुख प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अर्थोपार्जन में धर्म का परित्याग न करें अन्यथा जीवन के अन्तिम भाग में हमें बहुत सन्ताप होगा। हमारे काम हमारे सामने आकर नाचने लगेंगे। हमारे अन्तःकरण में सुलगते अङ्गारों का काम करेंगे।

प्राचीन वैदिक शास्त्रों में गृहस्थी के लिए पांच यज्ञों का विधान है। इनमें पितृ यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ और अतिथि यज्ञ का अभिप्राय है कि हम अपने अर्थ का उपयोग केवल अपने अथवा अपने परिवार के लिए ही न करें। इसमें हमारे वृद्ध पितरों, मनुष्येतर प्राणियों और अतिथियों का भी आवश्यक भाग है इसके अतिरिक्त हमें अपने निर्धन पड़ौसियों के प्रति भी दया की भावना रखनी चाहिए। यदि हमारे पड़ोसी दुखी हैं तो हम कभी सुखी न रह सकेंगे। तथा "दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान", वैभव के साथ अभिमान हमें पतन की दिशा में ले जायेगा। दया और सहानुभूति हमें सच्चा मानव बनाएगी।

अर्थ के बाद जीवन का तीसरा अङ्ग "काम है"। पैदा होते ही बच्चा केवल माँ के आंचल से दूध प्राप्त करना चाहता है। मां के आँचल के दूध का पान कर वह सुखद निद्रा के वशीभूत हो जाता है। धीरे २ बड़ा होता जाता है। खिलौने, अन्न, स्वादिष्ट भोजन, खेलकूद सभी की ओर उसकी प्रवृत्ति होती जाती है। कुछ वर्ष बाद माता-पिता उसे विद्यालय में विद्याग्रहण के लिए भेज देते हैं। बाल्यावस्था समाप्त होती है। बच्चा अब युवा बन जाता है। यौवन में समझदार पुरुष अब माता पिता और भाई बहनों में ही सन्तुष्ट नहीं रहता। इन सब के होते हुए भी वह अपने अन्दर अकेलापन अनुभव करता है। उसमें एक विशेष वासना की जागृति होती है। वह एक जीवन-सङ्गिनी के साथ बसना चाहता है। इसके बिना अपने जीवन को अधूरा अनुभव करता है। प्रत्येक कन्या भी युवती होने पर अपने माता-पिता के आश्रय में रहती हुई सन्तोष अनुभव नहीं करती। वह अपने जीवन का

एक ऐसा साथी चाहती है जो अन्तिम समय तक उसका आश्रय बना रहे। जिसके साथ रहती हुई वह अन्तरीय मनोकामनाओं को पूर्ण कर सके। दोनों एक ऐसा साथी चाहते हैं जिसके हृदय में अपने हृदय को आसन दे सकें। स्त्री पुरुष का एक दूसरे के प्रति यह आकर्षण ही "काम" है।

संयत काम युवक और युवती को एक दूसरे के प्रति जीवन-पर्यन्त समर्पण के लिए प्रेरित करता है। असंयत काम जीवन का नाश कर देता है। यजुर्वेद में इस जीवन के तृतीय अङ्ग काम के विषय में कहा है :—

काऽदात्, कस्मा अदात्, कामोऽदात्, कामायाऽदात्।
कामोदाता कामोप्रतिगृहीता।

प्रश्न—गृहस्थ में प्रवेश के समय कन्या और वर में कौन देने वाला है? किस निमित्त से देता है?

उत्तर—काम (जीवन का तृतीय अङ्ग) युवक युवती को एक दूसरे के प्रति समर्पित करता है। जीवन के तृतीय अङ्ग काम की पूर्ति के निमित्त यह समर्पण है। काम ही दाता है और काम ही गृहीता होता है।

काम को संयत और व्यवस्था में रखने के लिए श्रुति और स्मृतियों में एक-पत्नीव्रत और एक-पतिव्रता रहने का उपदेश है। वेद में काम का सम्बन्ध धर्म के साथ बनाए रखने का निर्देश है। विवाह के समय पत्नी का पाणिग्रहण करते हुए पवित्र संकल्प करता है :—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

मैं तेरा पाणिग्रहण परस्पर सौभाग्य सम्पादन के लिये कर रहा हूं (पूर्ति मात्र के लिए नहीं) जिससे तू मुझ पति के साथ सौभाग्यवती रहती हुई वृद्धावस्था को प्राप्त करे।

ममेयमस्तु पोष्यां मह्यं त्वादात् वृहस्पतिः। मयापत्या प्रजावती शंजीव शरदः शतम्। (अथर्ववेद)

इस पत्नी का पोषण करना मेरा (पतिका) कर्त्तव्य है। बृहस्पति ने तुझ पत्नी को मुझे दिया है (उस प्रभु की कृपा से ही यह जोड़ा जुड़ा है)। मुझ पति के द्वारा प्रजावती होकर तू कल्याणपूर्वक शतवर्ष जीवित रह।

पत्नी भी संकल्प करती है :—

"सनो अर्यमा प्रतो मुञ्चतु मापते" पा-कांक १०६—

"आयुष्मानस्युमे पतिः एधन्तां ज्ञानयोमम" पा-का० १ क० ६—

न्यायकारी प्रभु मुझे इस (पितृगृह) से मुक्त करे पर पतिगृह से कभी मुक्त नहीं करे।

मेरा पति आयुष्मान् हो। मेरे सब बान्धव समृद्धि के मार्ग में अग्रसर हो।

इस प्रकार काम के सार्थ धर्म, सद्भावनाओं और स्थायी सहजीवन का सम्बद्ध कर भारत के प्राचीन शास्त्रों ने इसे पूर्णरूप से व्यवस्थित कर दिया है। यह व्यवस्थित काम ही गृहस्थ आश्रम का निर्माण करने वाला है। अव्यवस्थित धर्महीन काम सदागृह-कलह और अशान्ति का कारण बना रहता है। वह मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है।

काम के साथ पतिपत्नी में आवश्यक तौर पर सन्तान कामना बनी रहती है। सन्तान के बिना गृहस्थ जीवन सूना प्रतीत होता है। काम का वास्तविक उद्देश्य भी सन्तान प्राप्ति ही है। सन्तान के बिना मनुष्य के हृदय में छिपी हुई वात्सल्य भावना को तृप्ति नहीं मिलती। निःसन्तान दम्पति सदा जीवन में अधूरापन अनुभव करते हैं। सन्तान से ही घर भरा हुआ प्रतीत होता है। सन्तान उत्पन्न कर उसे सदाचारी, तेजस्वी, यशस्वी, समृद्धिमान् बना कर ही मनुष्य पितृऋण चुका सकता है। जिस प्रकार हमारे पितरों ने हमारे प्रति कर्त्तव्य पालन किया उसी प्रकार हम भी अपनी सन्तान के प्रति कर्त्तव्य पालन करके पितृऋण से मुक्त हो सकते हैं।

अर्थ के बिना गृहस्थ जीवन में किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकती है। पति-पत्नी और सन्तान का पालन पोषण अर्थ के द्वारा ही हो सकती है। अर्थ काम का आधार है अतः अर्थ को जीवन का दूसरा और काम को तीसरा अंग माना गया है।

मोक्ष

अर्थ और काम में मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसके लिए प्रायः किसी वाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती। अर्थ और काम की दौड़ में अविवेकी पुरुष अन्धा हो जाता है। धर्म से भी विमुख हो जाता है। मनु ने इसी अनुभव के आधार पर कहा है:—

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते"

अर्थ और काम में जिनकी आसक्ति है उन्हें धर्म की ओर प्रेरित नहीं किया जा सकता। अर्थ और काम जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं पर इनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अर्थ में आसक्ति का परिणाम लोभ है। लोभ से तृष्णा का उदय होता है। काम के अविवेकपूर्ण उपभोग से काम की तृप्ति नहीं हो सकती। वासना और रतिभावना बढ़ती चली जाती है। अतृप्ति बनी रहती है। काम की अतिशयता शरीर की शक्ति को नष्ट कर देती है। दुर्बल मनुष्य सदा क्रोध का शिकार बना रहता है। काम क्रोध और लोभ जीवन के परम शत्रु हैं।

मनुष्य जीवन में वास्तविक सुख तभी मिल सकता है जब जीवन के लिए आवश्यक अर्थ और काम का उपयुक्त उपभोग करने के बाद इनका त्याग किया जाय। इनके त्याग में अपना विलक्षण आनन्द है। इसीलिए मनु ने कहा है:—

"अपत्यस्यापि चापत्यं तदारण्यं समाविशेत्"

जब सन्तान की सन्तान हो जाय तब वृद्ध पति पत्नी को गृहत्याग कर वन में आश्रय लेना चाहिए। सन्तान मोह का परित्याग कर अर्थ और काम से परे रहते हुए अपने आपको चिन्ता से मुक्त कर देना चाहिये।

वानप्रस्थ और संन्यास दो आश्रम मोक्ष की तैयारी तथा सन्तप्त जनों के सन्ताप को दूर करने के लिए हैं। ब्रह्मचर्य काल में आचार्य से शिक्षा ग्रहण की। गृहस्थ में रहकर संसार का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया। अब आत्म चिन्तन का समय आ गया।

गृहस्थ में रहते हुए मनुष्य का दृष्टिकोण सीमित और संकुचित रहता है। मैं, मेरी पत्नी, मेरी सन्तान तक ही मनुष्य का विशेषरूप से अपनापन बना रहता है। मैं, मेरी पत्नी, मेरी सन्तान से सम्बद्ध जनों में भी सम्बन्ध की दूरी के अनुसार इस अपनेपन की अभिव्यक्ति रहती है। गृहस्थ आश्रम के परित्याग के बाद मनुष्य को अपना दृष्टिकोण विस्तृत करना पड़ता है। इस विस्तृत दृष्टिकोण में एक ओर द्वेष का स्थान नहीं रहता। सभी विश्व के प्राणियों में अपनेपन का विस्तार हो जाता है। सभी में अपनापन देखने पर किसी व्यक्ति

में राग और द्वेष की भावना नहीं बन सकतो। समान रूप से सबका उपकार करना कर्त्तव्य हो जाता है।

सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी प्रभु सबका माता पिता है। हम सब उसकी देन हैं। इस देन में कोई भेदभावना नहीं है। गृहस्थ त्याग के बाद यह पवित्र और उदार भावना हमारे हृदय में व्याप्त हो जाती है। इस भावना से सभी विश्व के प्राणी परस्पर वन्धु बन जाते हैं। किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रह सकती। सब सन्तप्तजनों का सन्ताप दूर करने की उदार भावना मन में दृढ़ हो जाती है। मोह और शोक नष्ट हो जाते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का मन्त्र है :—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्व मनुपश्यतः ॥

जिस अवस्था में ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण में सब प्राणियों के लिए आत्मीयता के भाव का समावेश हो जाती है तब मोह और शोक का स्थान ही नहीं रहता।

प्रभु विश्व सृष्टि का निर्माता है। वही इसका पालन करता है। वही संहर्ता है। उसने हमें यह शरीर कर्म करने के लिए दिया है। यह शरीर इस के अन्दर रहने वाले आत्मा का कोष (घोंसला है आत्मा अजर है, अमर है। कर्मों के अनुसार प्रभु इसे एक के बाद दूसरा योनिशरीर कर्म करने और कर्म फल भोगने के लिए देता है। शरीर को आत्मा समझकर अविवेकी मनुष्य शरीर साधना में ही रह जाता है। यह शरीर अनित्य है। इसमें रहने वाला जीव नित्य है। शरीर जीवन के अन्तिम लक्ष्य "मोक्ष" प्राप्ति का साधन है। विवेकी पुरुष इसे साधन समझकर सत्कर्मों द्वारा मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। उसका इस शरीर में राग नहीं रहता। जब शरीर में राग न रहा तो इसे क्षणिक सुख देने वाले समस्त पदार्थों और बन्धु बान्धुवों से भी राग छूट जाता है। वह बिरक्त हो जाता है। "विवेक और वैराग्य" मोक्ष मार्ग के दो मुख्य साधन हैं।

मोक्ष का तीसरा साधन शमदमादिषट्क सम्पत्ति है। महर्षि दयानन्द ने

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में मोक्ष साधनों का प्रतिपादन करते हुए निम्नलिखित शब्दों में इसकी व्याख्या की है :—

"**एक शम**—आत्मा और अन्त:करण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना, **दूसरा दम**—श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचार आदि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियाचादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना, **तीसरा उपरति**--दुष्कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना, **चौथा तितिक्षा**—निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कितना ही क्यों न हो परन्तु हर्ष शोक छोड़ कर मुक्ति साधनों में सदा लगे रहना, **पांचवां श्रद्धा**—वेदादि सत्यशास्त्र और इन के बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना, **छठा समाधान**—चित्तकी एकाग्रता, ये छः मिलकर एक साधन तीसका कहलाता है।"

मोक्ष का चतुर्थ साधन मुमुक्षुत्व है। जिस प्रकार भूखा पुरुष अन्न के पीछे भागता है, प्यासा पानी के पीछे उसकी तलाश में लगा रहता है। जब तक अन्न और जल की प्राप्ति न हो जाय वह अकर्मण्य नहीं होने पाता उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिए आन्तरिक दृढ़ कामना की आवश्यकता है। मोक्ष मार्ग बहुत कठिन तपस्या से साध्य है। दृढ़ कामना और संकल्प के बिना मनुष्य उस मार्ग पर नहीं चल सकता।

इन चार साधनों से सम्पन्न पुरुष योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग के मार्ग का अनुसरण करता हुआ उस परम प्रभु आनन्दमय परमात्मा में रमण करता हुआ सभी दुःखों से चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है।

'तदत्यन्त विमोक्षो अपवर्ग:" दुःखों से सर्वथा छुटकारे का नाम ही अपवर्ग या मोक्ष है।

मोक्ष के साधनों पर विस्तृत विमर्श के लिए पाठकों को आर्ष ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए।

—:o:—

वैदिक समाज व्यवस्था

पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड
(आनन्दकुटीर ज्वालापुर)

वैदिक धर्म के मुख्य तत्त्वों में से एक मनुष्यसमाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चार आश्रमों में विभाजन है। वर्ण तथा ब्राह्मणादि शब्द ही इस बात को सूचित करते हैं कि वेदादि सत्शास्त्रों में प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण कर्म स्वभाव पर है जन्म पर नहीं। 'वर्ण' शब्द वृञ्-वरणे इस धातु से बनता है। जिसका अर्थ 'व्रियते गुणकर्म स्वभावादिभिरितिवर्णः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ है कि गुण कर्म स्वभावादि के आधार पर जिसका वरण वा चुनाव किया जाए। "वर्णो वृणोतेः"। यह कह कर निरुक्तकार यास्काचार्य जी ने इसी भाव को प्रकट किया है।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये शब्द भी वर्ण व्यवस्था के गुणकर्मानुसार होने को सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ ब्राह्मणशब्द ब्रह्म शब्द से 'तदधीते तद्वेद' अष्टाध्यायी ४,२,५९ के अनुसार अन्प्रत्यय करने पर बनता है। ब्रह्म शब्द के अर्थ परमेश्वर और वेद के होते हैं अतः ब्राह्मण का अर्थ परमेश्वर को जानने वाला और वेदों का विशेष अध्ययन करके उनके अर्थ को अच्छी तरह जानने वाला यह सर्वथा स्पष्ट है।

'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः' यह आर्षवचन सुप्रसिद्ध है जिसका आधार ब्राह्मण शब्द की उपयुक्त व्युत्पत्ति और वेदमन्त्रों पर है जैसे कि

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणाये मनीषिणः।

(ऋ० १।३४. ४५) में 'ब्राह्मणाः' का अर्थ श्री सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में ब्राह्मणाः— वेदविदो मनीषिणः. ब्राह्मणाः— वाच्यस्य शब्द ब्रह्मणः

अधिगन्तारो योगिनः अथवा प्रवृत्ति-प्रत्ययादिविभागज्ञा योगविदः ।

इत्यादि किया है जिससे स्पष्ट है कि वेद जानने वाले, बुद्धिमान, मेधा-सम्पन्न योगियों को ब्राह्मण कहते हैं ।

ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय शब्द भी गुणसूचक है क्योंकि उसका अर्थ क्षत अर्थात् आक्रमण व आपत्ति से त्राण व रक्षा करने वाले का है ।

वैश्य शब्द भी "विश् प्रवेशे" इस धातु से बनता है और जो व्यापारादि के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रवेश करे इस अर्थ का वाचक होने के कारण गुणसूचक है । महाभारत शान्तिपर्व के वर्ण व्यवस्था प्रकरण में भृगु ने वैश्य के विषय में शब्दार्थ का निर्देश करते हुए कहा है कि

विशत्याशु पशुभ्यश्च. वृण्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः, सवैश्यइतिसंज्ञितः ॥ (अ० १८६)

अर्थात् जो वेदाध्ययन सम्पन्न होकर व्यापारादि के लिए इधर उधर जाता, पशु रक्षण व कृषि आदि करता तथा पवित्र है वह वैश्य कहाता है ।

शूद्र शब्द भी गुणवाचक है जो 'शु-द्रवति अथवा शुचा द्रवतीति' इन व्युत्पत्तियों के अनुसार बनता है और जिसका अर्थ सेवा के लिए शीघ्र इधर-उधर दौड़ने वाला तथा वेदादि शास्त्रों का ज्ञान मुझे मन्दबुद्धिता के कारण प्राप्त नहीं हो सका इस शोक से द्रवित होने वाला है । महाभारत के उपर्युक्त प्रकरण में शूद्र के विषय में यही बतलाता है कि

सर्वभक्षरतिर्नित्यं, सर्व कर्म करोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः. सशूद्र इतिसंज्ञितः ॥ (शा० प० अ० १८६.७)

अर्थात् शूद्र वह कहाता है जो सर्व प्रकार के पदार्थों के भक्षण में तत्पर है, सब प्रकार के सेवा कर्म करने वाला है । वेद का जिसने स्वयं परित्याग कर दिया है तथा जो उच्च आचार सम्पन्न नहीं ।

इस प्रकार यदि इस विषय में जो स्पष्ट प्रमाण वेदादि शास्त्रों में पाये जाते हैं उनका विस्तृत विवेचन न किया जाए तो भी ब्राह्मणादि शब्दों के आधार पर यह बात निस्सन्देह कही जा सकती है कि वेदोक्त वर्ण व्यवस्था

का आधार गुण कर्म स्वभाव पर है। वैदिक समाज व्यवस्था का आधार भूत मुख्य मन्त्र निम्न है।

ओं ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतः ॥

ऋ० १०।९०

इस मन्त्र में जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेदमें (थोड़े से अन्तर से) पाया जाता है मनुष्य समाज की एक व्यक्ति के शरीर के साथ तुलना करते हुए समाज के आदर्श संगठन का जो निर्देश किया गया है वह अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। वेद भगवान् कहते हैं कि यदि ब्राह्मण का तुम आदर्श जानना चाहते हो तो अपने मुख भाग की ओर देखो। मुख भाग के अन्दर आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा पांच ज्ञानेद्रियां हैं और कर्मेन्द्रियों से एक वाणी है जो इस में पाई जाती है। सारे अवयवों में यदि सबसे अधिक स्वार्थ रहित और तपस्वी कोई अवयव है तो यह मुख ही है। सर्दियों में जब सारे अङ्गों को खूब अच्छी तरह ढांक दिया जाता है तब भी मुख का यह भाग नङ्गा ही रहताहै। इसके अन्दर कितने भी स्वादिष्ट पदार्थ क्यों न डाले जाएं यह अपने लिए कुछ न रखकर सारे शरीर में उन्हें पहुंचा देता है। इस प्रकार समाज में जो पुरुष सम्पूर्ण ज्ञान का संग्रह कर के वाणी द्वारा उसका प्रचार करते हैं, जो तपस्वी और स्वार्थ रहित हैं वही ब्राह्मण हो सकते है। जिसके अन्दर ये गुण ही नहीं पाये जाते वे कभी ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते। इस प्रकार 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। इस मन्त्रांश का अर्थ यह हुआ कि ब्राह्मण इस विराट पुरुष (समाज-शरीर) का मुख है।

'बाहू राजन्यः कृतः'—इस मन्त्र भाग में क्षत्रियों की शरीर के बाहु भाग के साथ उपमा दी गई है। शरीर में भुजाओं का काम सारे शरीर की बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करना है। जब कभी कोई शत्रु हमें मारने के लिए उपस्थित होता है तो ये हाथ हैं जो रक्षार्थ आगे बढ़ते है। इसी तरह यदि पैरों में या दूसरी जगह कांटा चुभ जाता है तो उसे निकालने का कार्य ये हाथ ही करते हैं। सारे शरीर में सबसे अधिक फुर्तीलापन हाथ के भाग में ही पाया जाता है। इसी तरह जो लोग मनुष्य समाज व राष्ट्र की आन्त-

रिक और बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा करते हैं, वही शूरवीर, फुर्तीले क्रियाशील पुरुष क्षत्रिय कहलाते हैं। भीरु, निर्बल, आलसी, पुरुष कभी क्षत्रिय नहीं कहला सकते।

वैश्य के विषय में ऋग्वेद १०. ९०. १२ तथा यजु, ३१. १२ में कहा है ऊरू तदस्य यद् वैश्यः, जिसका अथर्व वेद १९. ६, ६, में मध्यं तदस्ययद् वैश्यः, ऐसा पाठ है जिसका तात्पर्य यह है कि शरीर के मध्य भाग अर्थात् पेट से जङ्घा तक के भाग का का जो कार्य है समाज में वही कार्य करने वाले वैश्य होते हैं। शरीर का यह भाग अन्य सब भागों की अपेक्षा अधिक आराम पसन्द अथवा भोग प्रिय है। अन्न इत्यादि का संचय भी यही करता है। भोजन का परिपाक करके और रुधिरादि रूप में उसे परिणत करके यही भाग फेफड़ों आदि में उसे भेजता है एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना जघांओं के बिना असम्भव होता है। इसी तरह जो पुरुष धर्मयुक्त साधनों द्वारा संग्रह करके ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्रों तथा उत्तम संस्थाओं के संचालन के लिए उसका उचित विभाजन कर देते हैं, जो व्यापारादि के लिए इधर उधर जाते हैं वे वैश्य कहाते हैं।

शूद्र के विषय में वेदों में कहा कहा है 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' अर्थात् शरीर में पैर जिस प्रकार सारे अंगों की सेवा करते हैं इसी प्रकार जो ईर्ष्या द्वेषरहित होकर प्रेम से द्विजों की सेवा करते हैं, 'तपसे शूद्र' (यजु० ३.), इस वेद-वचन के अनुसार जो सर्दी-गर्मी आदि इन्हीं को सहन करने वाले तपस्वी हैं क्योंकि तप के बिना वास्तविक सेवा नहीं कर सकता, वे शूद्र कहाते हैं।

इस वैदिक वर्ण व्यवस्था में जन्मगत ऊंच नीच व घृणा की कोई भावना नहीं है प्रत्युत पूर्ण प्रेम और सहयोग की भावना है। शरीर के सब अंग मिल कर जैसे कार्य करते हैं और उनमें पूर्ण सहयोग न हो तो कभी शरीर का कार्य नहीं चल सकता, वैसे ही समाज में ब्राह्मण क्षत्रियादि का परस्पर प्रेम और सहयोग होना चाहिए यह वैदिक आदेश है। इसीलिए वेद के शब्दों में यह प्रार्थना की जाती है कि—

'प्रियं मा वृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्यपण पत उत शूद्र उतार्ये ॥ (अथर्व १६।६२।१)

अर्थात हे परमेश्वर ! आप मुझे सत्यनिष्ठ ज्ञानियों (ब्राह्मणों) क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों तथा सब प्राणियों का प्रिय बनाओ । सब के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हुए ही हम उन सबके प्रेम पात्र बन सकते हैं न कि जाति, धन व विद्याभिमान से अन्यों को तुच्छ व घृणित समझते हुए। इस वर्ण व्यदस्था के द्वारा व्यक्तिवाद (Individualism) और समष्टिवाद (Socialism) का पूर्ण समन्वय हो सकता है । प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह अपनी योग्यता और शक्ति को समाज में खूब विकसित करें, पर उसे अपनी इस शक्ति को समाज की सेवा और उन्नति में लगा देना चाहिए। संसार के अधिकतर कलहों और उपद्रवों का एक प्रधान कारण धनपतियों की अनुचित प्रधानता और पूजा है। धन और सम्मान दोनों एक स्थान पर एकत्रित होने से अशान्ति का कारण बन रहे हैं क्योंकि धनपति अपने धन के प्रभाव से अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर बड़े बड़े विद्वानों का भी मुख बन्द कर देते हैं किन्तु वर्ण-व्यवस्था की भावना से रखते हुए ऐसा नहीं हो सकता। वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज में मस्तिष्क व सच्चे नेतृत्व का काम ब्राह्मण कर सकते हैं किन्तु क्योंकि वे त्यागी, तपस्वी, निःस्वार्थ व्यक्ति होते हैं अतः वे निर्भय होकर सत्य कह सकते और उसका प्रचार कर सकते हैं। बड़े बड़े राजा महाराजाओं और सम्राटों से भी उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता। धनपति वैश्यों को धर्मयुक्त साधनों से पुरुषार्थ पूर्वक धन कमाने की स्वतन्त्रता है किन्तु उन्हें ब्राह्मणों के समान सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता, क्षत्रिय भी अपने पास अधिक धन संग्रह करके नहीं रख सकते किन्तु शासनाधिकार उनके पास होता है। श्रम-जन विभाग Division of Labour के वैज्ञानिक सिद्धान्त पर वैदिक वर्ण व्यवस्था का आधार है। समानता, स्वतन्त्रता, और बन्धुता (Equality, liberty and fraternity) के उच्च तत्त्व जिन्हें समाजवाद का आधार माना जाता है अपने शुद्ध रूप में वेदोक्त वर्ण व्यवस्था में विद्यमान हैं किन्तु ऐसे रूप में नहीं जो शिक्षित, अशिक्षित, सबको ठोक पीट कर बराबर करने का आज प्रयत्न हो रहा है।

मूर्ति पूजा की हानियां

श्री पं० अमरसिंह आर्यपथिक
(आचार्य दयानन्दोपदेशक विद्यालय, हापुड़)

इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी भली भाँति जानता है कि मूर्तिपूजा ने संसार को कितनी क्षति पहुंचायी फिर भी पता नहीं क्यों सभी मूर्तिपूजा के मोह से चिपटे हैं। प्रस्तुत लेख में मूर्ति-पूजा की कुछ हानियों से परिचित कराया गया है। आवश्यकता है कि मूर्तिपूजा के विरुद्ध तीव्र आंदोलन चलाया जाए—संपादक

१—मूर्त्ति पूजा से पहिली और बड़ी हानि यह होती है कि मूर्त्ति पूजा करने वाले का मन कभी एकाग्र नहीं हो सकता है। मूर्त्ति को सम्मुख देखते हुए मन कभी उसके मुकुट पर जाता है कभी आखों पर कभी कानों और कुण्डलों पर कभी भुजाओं पर, कभी पैरों पर, कभी किसी अङ्ग की बनावट सुन्दर प्रतीत होती है कभी किसी अङ्ग को देखकर उसके बनाने वाले की की प्रशंसा करने को मन चाहता है। कभी किसी अङ्ग को देखकर बनाने वाले की निन्दा की इच्छा होती है। मूर्त्ति के वस्त्रालङ्कार भी मन को चलाय-मान करते हैं और शङ्ख तथा घड़ियाल की पूं-पूं टन्-टन् का तो कहना ही क्या है। बात स्पष्ट है कि मूर्त्ति को देखकर मन चंचल ही रहता है कभी उसमें स्थिरता नहीं आ सकती है। उपासना के विषय में भी कृष्ण जी का वचन गीता में यह है कि—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रमः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।

मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके आसन पर बैठ कर आत्म-शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।गीता २।४१।

अव्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, अर्जुन! अव्यवसाइयों की अनिश्चयात्मिका बुद्धि बहुत शाखाओं वाली और बहुत होती हैं। बस मूर्त्तिपूजा करने वालों की बुद्धियां इसी प्रकार की होती हैं।

सांख्य दर्शन में महर्षि कपिल कहते हैं कि—
ध्यानं निर्विषयं मनः।

मन का निर्विषय अर्थात् विषय रहित होना ही ध्यान है। विषय पांच हैं कान का विषय शब्द त्वचा का विषय, स्पर्श, आंख का रूप, जीभ का विषय रस और नासिका का विषय गन्ध। मूर्त्ति इन विषयों से पृथक् नहीं है अतः उसके द्वारा ध्यान कदापि नहीं हो सकता। परमेश्वर निर्विषय है "अशब्द.-मस्पर्शमरुपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्" अनाद्यनन्तं महतः पर ध्रुवं निचाय्य तं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते ।। कठो० वल्ली ४ मन्त्र १५

वह परमेश्वर अशब्द है, अस्पर्श है, अरूप, अरस और अगन्ध है। इसलिए जब मन निर्विषय होगा तभी परमेश्वर में लगेगा। सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिपूजक मनुष्य कभी भी ईश्वर में ध्यान नहीं लगा सकता है, वह सदा ईश्वर से विमुख ही रहेगा।

एक बात यह भी विचारणीय है कि—यदि साकार वस्तुओं से बुद्धि एकाग्र हो सकती होतो तो सबकी हो गई होती क्योंकि साकार पदार्थों को तो सभी सदा देखते हैं और मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी सदा देखते हैं सभी एकाग्रचित्त और ध्यानावस्थित हो जाते हैं।

२—मूर्त्तिपूजा से दूसरी बड़ी हानि यह है कि—मूर्त्तिपूजक को पाप कर्म करने की छूट मिल जाती है इस कारण वह बड़े से बड़े पाप कर्म को भी कर सकता है। इस छूट के कारण दो हैं, एक यह कि वह यह समझने लगता है कि ईश्वर मन्दिर में ही है अन्यत्र नहीं ऐसा प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि

मूर्त्तिपूजक मनुष्य मन्दिर के सम्मुख आकर शिर झुकाता है अन्यत्र नहीं, वहीं प्रणाम करता है और जब किसी से सच्चाई की शपथ उठानी होती है उसको उस मन्दिर और उस मूर्त्ति के सम्मुख ले जाने का यत्न किया जाता है जिस की वह पूजा करता है। इससे स्पष्ट है कि मूर्त्तिपूजकों का यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि भगवान् इस मन्दिर ही में, और मन्दिर में भी सारे में बाहर भीतर नहीं केवल मूर्त्ति ही में है, इसके सम्मुख झूठ नहीं बोलना है अन्यत्र सारा देश झूठ बोलने और पाप करने के लिए खुला है।

दूसरा कारण मूर्त्तिपूजक को पाप की छूट मिलने का यह है कि वह यह विश्वास करता है कि मैं चाहे कैसा ही बड़ा पाप करलूं वह सारा का सारा भगवान् की मूर्त्ति का दर्शन करने, उनका चरणामृत पीने, उन पर जल वा कुछ पदार्थ चढ़ा देने मात्र से ही नष्ट हो जायगा। उसका फल कभी भी नहीं मिलेगा। यथा—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ आदि······

३—तीसरी बड़ी हानि मूर्त्तिपूजा से यह होती है कि—मूर्त्तिपूजक को अपने अन्दर गुण उत्पन्न करने की प्रवृत्ति नहीं रहती, वह सर्वथा नष्ट हो जाती है। वह इस पर विश्वास करने लगता है कि—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का॥
का जाति विदुरस्य च यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्॥
का कुब्जा कमनीयरूपमधिकं किञ्चित्सुदाम्नो धनम्।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणो भक्तिः प्रियो माधवः॥

अर्थात् भगवान् भक्ति से प्रसन्न होते हैं गुणों से नहीं उन्होंने व्याध कसाई का आचरण नहीं देखा, ध्रुव की आयु नहीं देखी, गज और ग्राह की लड़ाई में गज की रक्षा की उसकी क्या विद्या थी? दासी पुत्र विदुर की जाति क्या थी? यादवों के राजा कंस के पिता उग्रसेन का क्या पौरुष था? कुब्जा कुबड़ी का क्या कमनीय रूप था। सुदामा के धन नहीं था। परमेश्वर गुण नहीं देखते भक्ति ही देखते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः।

जो मेरी अनन्य भाव से सेवा करता है, जो भक्त हैं, चाहे दुराचारी ही हो पर उसको साधु ही माना चाहिए।

इसी कारण सारे संयासी और महन्त और सारे पण्डे और पुजारी, चाहे उनमें कितने ही पापी और दुराचारी हों वह सब पूजनीय ही माने जाते हैं और उनको भंग सुलफा आदि-आदि साधन भी दिए जाते हैं।

३—मूर्त्तिपूजा वेद विरुद्ध होने से पाप है। जैसे वेद विहित सत्य भाषणादि का करना धर्म है वैसे ही वेद-विरुद्ध कर्मों को करना अधर्म है। चारों वेदों में कहीं भी नहीं कहा कि परमेश्वर की मूर्त्ति बनानी और पूजनी चाहिए। कहीं भी नहीं कहा कि सोना, चाँदी, पीतल, पत्थर मिट्टी से मूर्त्ति बनानी चाहिए वह कितनी बड़ी कितनी मोटी तथा दो भुजी चतुर्भुजी वा अष्टभुजी कैसी बनायी जानी चाहिए और कैसे उसकी पूजा की जाए।

वेद में स्पष्ट यह तो कहा कि—

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः

यजुः ३२।२

अर्थात् उस परमेश्वर की मूर्त्ति नहीं है उसका नाम महान् यश वाला है।

४—अपार धन मूर्त्तिपूजा के कारण मन्दिरों में लगता है। कलकत्ते में एक करोड़ रुपया एक सेठ ने लगा एक मन्दिर बनाया। उसका उद्‌घाटन और मूर्त्ति में प्राण प्रतिष्ठा नामक मिथ्या प्रपञ्च रचने के लिए देश भर के बहुत से बड़े से बड़े पौराणिक पण्डित बुलाए गए थे। बद्रिकाश्रम के शङ्कराचार्य श्री कृष्ण बोधाश्रम जी तथा श्री करपात्री जी भी वहाँ आए थे—मैंने पत्र लिख कर भेजा कि—

"मूर्तिपूजा वेदानुकूल है वा वेद विरुद्ध"

"देश के बड़े-बड़े पण्डित इस समय आये हुए हैं इससे अच्छा अवसर इतने विद्वानों के इकट्ठे होने का फिर मिलना कठिन है इसलिए इस अवसर पर मेरे साथ आप लोगों की ओर से कोई पण्डित इस विषय में शास्त्रार्थ कर ले कि—'मूर्त्ति पूजा वेदानुकूल है या वेद विरुद्ध' मेरा भेजा हुआ पत्र पण्डितों ने भी पढ़ा। शंकराचार्य जी तथा करपात्री जी ने भी पढा और मेरे पत्रवाहक को कह दिया कि आप जाइए इसका उत्तर लिख कर भेज दिया जायगा। सब चुप

लगा गए, न शास्त्रार्थ किया न मेरे पत्र का उत्तर दिया। इस मन्दिर पर एक करोड़ रुपया व्यय हुआ बताया जाता है इस प्रकार अर्बों-खर्बों रुपया मन्दिरों में लगा हुआ है। इस धन को देश को शिक्षित बनाने और कला-कौशल सिखाने में लगाया जाता तो देश को अपार लाभ पहुँचता, देश की भारी उन्नति होती।

५— मूर्त्ति पूजा से निकम्मापन और दुराचार फैलता है। तीर्थ कहलाने वाले स्थानों में ब्राह्मण नामधारी पण्डे और पुजारियों की संख्या लाखों की है। वह सब अपनी उन्नति तथा देश की उन्नति का कोई भी काम नहीं करते हैं उनकी सन्तान भी और कोई काम नहीं करती बालक बूढ़े स्त्री, पुरुष, जवान सबका का काम केवल पराई कमाई को ठगना खाना ही है।

अकेले जगन्नाथ पुरी में १० हजार से अधिक वह लोग स्त्री पुरुष बालक जवान और बूढ़े हैं जिनका यात्रियों की कमाई को ठग कर खाने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं है। उस मन्दिर में २००० हजार हाण्डी चावल की प्रतिदिन पकाई जाती हैं जिनमें २० से २५ मन तक चावल नित्य पकाया और उन परिवारों में बाँटा जाता है, जो उस मन्दिर से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें ७०० परिवार वह हैं जो शृंगारी कहलाते हैं जो बारी-बारी से मूर्त्तियों को शृंगार कराते कपड़े आदि बदलवाने का काम करते हैं। दो हजार कुवांरी लड़कियाँ और प्रौढ़ा हैं जो भांति-भांति के शृंगार करके मन्दिरों में नाचने का काम करती हैं और देवदासी कहलाती हैं। अब उन पर प्रतिबन्ध लग गया है अतः वह पान आदि की दूकानें और·· ···करती हैं। यही दशा अन्य मन्दिरों की है।

६—मन्दिर में बहुत धन होता है इसी लालच से विदेशी गजनी आदि से आने वाले मुसलमान आक्रान्ताओं ने मन्दिर को तोड़ा और सहस्रों ऊँटों पर सोना चांदी और जवाहिरात मन्दिरों में से लूट-लूट कर माल अपने देश को ले गए। एक-एक मन्दिर में मूर्त्तियों आदि में लगा सोना हजारों-हजारों मन था। मूर्त्तिपूजा से देश की अपार धन हानि हुई।

७—मूर्त्ति पूजकों ने मूर्त्तियों पर यह विश्वास कर लिया कि ये हमारे सारे पापों और दुःखों को दूर करने वाली हैं और देश विदेश के शत्रुओं से भी हमारी रक्षा ये मूर्त्तियां ही करेंगी। इसलिए वीरता से सर्वथा हाथ

धो बैठे।

काठियावाड़ के काठी राजपूत बड़े वीर थे। महमूद गजनवी ने जब सोमनाथ के मन्दिरों को तोड़ने और लूटने के लिए गुजरात में प्रवेश किया तब काठी राजपूतों ने मन्दिर के महन्त और पुजारियों को कहा कि तुम धन दो जिससे सेना बनाएं और शस्त्रास्त्र लें महमूद को मार कर भगाने को हम सर्वथा समर्थ हैं। महन्त और पुजारियों ने कहा कि नहीं उससे कदापि नहीं लड़ना चाहिए। यदि महमूद से सेना लेकर लड़ा जायगा तो सोमनाथ भगवान् का अपमान हो जायगा। भगवान् सोमनाथ स्वयं उसका और उसकी सेना का संहार कर देंगे मन्दिर की ओर बढ़ते ही उसका सर्वनाश हो जायगा।

पुजारियों ने इधर तो उन वीरों को ऐसा कहकर रोक लिया और उधर महमूद गजनवी को अपने दूत भेज कर यह सन्देश देने आरम्भ कर दिए कि आप इस समय बहुत सा धन लेकर वापिस चले जाइये और आगे के लिए लिख देते हैं कि—प्रतिवर्ष इतना धन आपको देते रहेंगे आप हमारे मन्दिर को न तोड़िए।

पुजारियों ने सोच लिया था कि यह धन का लालची है धन लेकर चला जायगा और हमको यह कहने का अवसर मिल जायगा कि भगवान सोमनाथ के भय के मारे महमूद उलटा ही भाग गया। परन्तु वहाँ बात उलटी पड़ी। महमूद ने पुजारियों के दूतों को फटकार दिया और कह दिया हम बुतफरोश अर्थात् मूर्तियों को बेचने वाले नहीं हैं जो तुम्हारी मूर्तियों के बदले में रुपया लेकर मूर्तियाँ तुमको बख्श जावें हम तो बुतशिकन अर्थात् मूर्तियां तोड़ने वाले हैं सो तुम्हारी मूर्तियों को तोड़ेंगे।

जब महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। तब मन्दिर के पुजारी लोग मन्दिर में घुस गए और अन्दर से फाटक बन्द कर लिया। महमूद गजनवी की सेनाओं ने आकर तोड़ दिया। अन्दर जाकर देखा मन्दिर में उस समय ७०० पुजारी थे उन सबको कत्ल किया गया। मन्दिर को लूट लिया गया, उस मन्दिर से सैंकड़ों मन सोना हजारों मन चाँदी और रत्न महमूद गजनवी को मिले जिन्हें ऊटों पर लाद कर गढ़ गजनी को ले गया।

इस प्रकार मूर्तिपूजा से अनेक हानियां हैं। अतः यह सर्वथा त्याज्य है।

प्राण प्यारा वेद

डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार

(भुजंग प्रयात)

अजन्मा अनन्तादि आदित्य नामी;
स्वयम्भू सखा सच्चिदानंद स्वामी।
निराकार नेता निहोता निकामी;
गुणी गेय गम्भीर ज्ञानानुगामी ॥
सभी का सखा है, सभी का सहारा।
बने वेद ही प्राण प्यारा हमारा ॥

विभावर्चसी ब्राह्मणों का वही है;
रमाराजसी भी उसी में रही है।
वही वैश्यवैभव्य की भी मही है;
वही शूद्र की सत्य सेवा सही है।
वही विश्ववर्णापगावारि धारा।
बने वेद ही प्राण प्यारा हमारा ॥

कहीं भी रहें, वेद के काम आवें,
पढ़ें वेदवाणी सुनें औ सुनावें।
स्वये कंज हो "सूर्य" श्रेमाण ध्यावें;
उसी से विनोदी बनें मोद पावें।
वही मृत्यु-मन्दाकिनी का किनारा,
बने वेद ही प्राणप्यारा हमारा।

बहनों का प्रण !

श्रावणी जहां सांस्कृतिक रूप से ज्ञान अर्जन के संकल्प का पावन पर्व है वहां ऐतिहासिक परम्परा ने इसे नारी की रक्षा और उदात्त स्थिति की स्थापना का घोषणा पर्व बना दिया है।

देश भर की बहनें उत्साह और प्यार से रक्षा का दृढ़ बन्धन अपने प्यारे-प्यारे भाइयों के हाथ में बांधती हैं। भाई उन्हें अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार कुछ भेंट देते हैं। इस सारे स्नेहबन्धन में भाई का यह संकल्प स्पष्ट रहता है कि वह प्राण देकर भी अपनी बहन के मान और लाज की रक्षा करेगा, नारी जीवन जहां परिवार में सभी के सुख, आनन्द और प्रेरणा का अजस्र स्रोत है वहां उसका जीवन तनिक भी मर्यादा भग होने पर संशय, अपमान और पीड़ा का केन्द्र बन जाता है। नारी की शालीनता और महत्ता उसके त्याग में—ममत्व में और बलिदान में छिपी है। इन्हीं गुणों के कारण वह पूज्या है, वंदनीया है। किन्तु जब नारी को केवल वासना पूर्ति की सामग्री मात्र समझा जाता है तो समाज की सारी आधारशिला लड़खड़ाने लगती है। उसकी तनिक सी भी पथ भ्रष्टता सभी को अव्यवस्थित कर देती है।

मेरा निश्चित दृढ़ विश्वास है कि आज राष्ट्र के नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी है नारी का वर्तमान रूप। समाज और समय के प्रभाव ने नारी को आदर के स्थान से च्युत कर भोग्या—खिलौना बना दिया है। वस्तुओं

की बिक्री तक के लिए नारी के वासना प्रधान चित्रों का प्रदर्शन अनिवार्य अंग बन गया है। जहाँ भी दृष्टि डालो ऐसा प्रतीत होता है कि अब नारी केवल प्रदर्शन की., अश्लील कामुक प्रदर्शन की सामग्री मात्र रह गयी है।

सीता-सावित्री और लक्ष्मी बाई के देश की नारी आज पश्चिम की भौतिक लहर के पीछे पागल बन गयी। पुरुष ने उसके पतन में अपनी पतित वृत्तियों की पूर्ति के स्वप्न पूरे होते देखे और उसे गिरने में सहारा दिया। अतः सर्वत्र नारी की नग्नना, फैशन की चादर ओढ़े फिर रही है। मेरा प्रश्न है कि बताओ भारत महान् की नारी की लाज बचाने वाले वीर अब कहाँ हैं जिनके हाथ में राखी बांधी जाए ?

इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं देगा। ऋषि दयानन्द के अनुयायी भी नहीं देंगे। उनमें भी आज यह साहस नहीं दीखता कि वे पुनः नारी को "तितली" के आसन से उठा 'देवी' के सिंहासन पर आरूढ़ कर सकें।

मेरी इच्छा रही है और आज भी सोचती हूँ कि देश में नारी के प्रदर्शनात्मक रूप को बन्द किया जाए। विज्ञापन में, सजावट में नारी के चित्रों का प्रयोग अपराध घोषित हो और सार्वजनिक अभद्र रूप से नारी के अपमान को रोका जाए।

रक्षा-बन्धन के दिन यदि बहनों की कुछ टोलियां राखी हाथ में लेकर उन दुकानों पर जाएं जहां नारी चित्र रखे हों और राखी बाँध कर बदले में उन चित्रों को उतारने की प्रार्थना करें तो शायद ही कोई ऐसा हो जो इन्कार करे।

आवश्यकता है कि बहनें आज स्वयं अपनी गौरव रक्षा के लिए कटिबद्ध हो आगे बढ़ें। भाई यदि साथ दें तो स्वागत, अन्यथा वे स्वयं सबला हैं आवश्यकता केवल संकल्प की है।

हम समझें कि नारी का उत्थान राष्ट्र का उत्थान और पतन राष्ट्र का पतन है। उस की जीवन शक्ति ही भावी नागरिकों में सदाचार के भाव भर सकती है। उपदेश और प्रस्ताव से राष्ट्र नहीं बनता, वह बनता है नारी के हाथों में।

अतः रक्षा बन्धन के पावन पर्व पर सभी के कल्याण और उत्थान के लिए नारी की रक्षा का प्रण भाई लें और बहनें आत्म-निरीक्षण करें कि कहीं हम भटक तो नहीं रहीं।

राकेश "साहित्यरत्न"

वैदिक समाज में नारी

★

श्री ईश्वर दत्त एम. ए.
६४, ए. कमला नगर दिल्ली-६

नारी का कार्य क्षेत्र घर है या बाहर यह विवाद प्रायः उठता रहता है, लेखक ने इस विषय पर वैदिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर हमें इस प्रश्न पर गंभीर विचार का निर्देशन किया है।

भारतीय प्रेस ट्रस्ट के एक संवाददाता ने मद्रास से १६ जुलाई सन् ·६४ का समाचार दिया हैं कि मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डाक्टर मुदालियर ने क्वीन मेरी कालिज की स्वर्ण-जयन्ती समारोह में अध्यक्ष पद से कहा 'इस समय कालिजों में सिर्फ महिलाओं के लिए गृह विज्ञान का पाठ्यक्रम है। लेकिन महिलाएँ अब वकालत, इजिनीयरिंग, डाक्टरी आदि जैसे पाठ्यक्रमों में अधिक शरीक हो रही हैं। वे प्रशासन सेवाओं की परीक्षा में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता कर रही हैं। इन सबसे अब यही पता चलता है कि अब पुरुषों को चूल्हा चौका संभालना पड़ेगा। साथ में विश्वविद्यालयों को पुरुषों के लिए भी गृह विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी।'

उपरोक्त समाचार से स्पष्ट है कि उपकुलपति महोदय चूल्हे चौके का काम केवल महिलाओं के लिये और शेष सब काम पुरुषों के लिये ही निश्चित समझते हैं। ऐसी धारणा और भी बहुत से पढ़े लिखे लोगों की है और बहुमत इसी पक्ष में है। परन्तु क्या यह यथार्थ सत्य है ? क्या परमात्मा ने नर और नारी के कार्यों का विभाजन इस प्रकार किया है कि कुछ तो नर के लिये और कुछ नारी के लिये निश्चित हैं ? मेरा निश्चित उत्तर है 'नहीं'।

इसमें संदेह नहीं कि नर और नारी के शरीरों की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है और इसी कारण से सन्तानोत्पत्ति का कार्य दोनों का सम्मिलित परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार का है। न तो नर के काम को नारी ही कर सकती है और न नारी के काम को नर ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई कार्य विभाजन परमात्मा को स्वीकार नहीं था और न अब है। यदि होता तो जो कार्य नारी के होते उन्हें नर नहीं कर सकता होता और जो कार्य नर के होते उन्हें नारी नहीं कर सकती होती। रसोई का काम नारी का समझा जाता है परन्तु क्या होटलों में पुरुष इस काम को कुछ कम योग्यता से करते हैं ? नहीं वे तो इस कार्य में अधिक दक्ष प्रतीत होते हैं। यदि यह काम केवल नारी का होता तो पुरुष उसे कर ही नहीं सकता था। उदाहरण के रूप में जो काम घोड़े का नहीं है उसे घोड़ी भी नहीं कर सकती। ऐसे ही जिस कार्य को घोड़ा करता है उसे घोड़ी भी कर सकती है। जैसे घोड़े और घोड़ी के कार्यों का विभाजन नहीं है इसी प्रकार नर और नारी के कार्यों का भी विभाजन नहीं है। क्या गार्गी जैसी विदुषी और रानी झांसी जैसी युद्ध कुशल महिलाओं के पर्याप्त उदाहरण नहीं मिलते हैं जिनसे सिद्ध हो रहा है कि अध्ययन जैसा ब्राह्मणों का काम और युद्ध करना आदि क्षत्रियों का काम केवल पुरुषों के लिए ही सुरक्षित नहीं है ? क्या पृथ्वी तल पर ऐसे प्रदेश नहीं हैं जहाँ महिलाएँ व्यापार भी करती हैं ? क्या आप कोई ऐसा कार्य बता सकते हैं कि जिसे या तो केवल महिलाएँ ही कर सकें या फिर केवल पुरुष ही कर सकें ? मैं समझता हूँ कि आप नहीं बता सकेंगे। अतः स्पष्ट है कि उप कुलपति महोदय जैसे बहुमतावलम्बियों ने जो कार्य विभाजन की कल्पना नर और नारी के बीच में कर रखी है वह कुदरती नहीं है।

अब जरा यह देखें कि ऋषिदेव दयानन्द की इस सम्बन्ध में क्या सम्मति है। सत्यार्थ प्रकाश के दशम समुल्लास में महर्षि लिखते हैं (प्रश्न) द्विज, अपने हाथ से रसोई बना के खावें या शूद्र के हाथ की बनाई खावें ? (उत्तर) शूद्र के हाथ की बनाई खावें क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्यपालन और पशुपालन खेती व्यापार के काम में तत्पर रहें। यहाँ दो बात ध्यान देने योग्य हैं (१) स्त्री और पुरुषों के काम में कोई अन्तर

नहीं है। ब्राह्मण और ब्राह्मणी विद्या पढ़ावें क्षत्रिय और क्षत्राणी राज्य पालन का कार्य करें। वैश्य और वैश्यपत्नी पशु पालन, खेती और व्यापार का कार्य करें। (२) द्विज स्त्री पुरुषों का काम रसोई बनाना नहीं है। यह काम शूद्रों का है।

इसी समुल्लास में कुछ आगे चल कर भगवान दयानन्द लिखते हैं, जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ **स्त्री-पुरुष** रसोई बनाने और चौका देने बर्तन भाण्डे मांजने आदि बखेड़े में पड़े रहें तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके'। यहाँ ध्यान दीजिए(१)ब्राह्मणादि और विद्यादि शब्दों में 'आदि' शब्द पड़ा है। इससे अभिप्राय स्पष्ट है कि यहाँ द्विज मात्र और उनके कार्य का ही ग्रहण है केवल ब्राह्मणों का नहीं। (२) स्त्री-पुरुषों के कार्य में कोई अन्तर नहीं है। (३) रसोई आदि का कार्य करना द्विज स्त्री-पुरुषों का है ही नहीं।

इसी प्रकार चतुर्थ समुल्लास में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—'शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाक विद्या में निपुण—यहाँ तो नितान्त स्पष्ट हो गया कि पाक विद्या का काम शूद्रों का है। द्विज स्त्री—पुरुषों का नहीं।

तृतीय समुल्लास में ऋषि दयानन्द लिखते हैं 'जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सके तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि ‥ बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते। मुदालियर महोदय तो वकालत में ही घबरा रहे थे यहाँ तो स्त्री के लिये न्यायाधीश का कार्य भी करने की सम्मति महर्षि दे रहे हैं।

इस प्रकार भगवान दयानन्द के लेखों से स्पष्ट हो रहा है कि (१) स्त्री पुरुषों के कार्यों का ऐसा कोई विभाजन नहीं है कि अमुक कार्य केवल स्त्री ही करें और अमुक कार्य केवल पुरुष ही करें। जिस स्त्री पुरुष में जिस कार्य करने की सामर्थ्य और योग्यता हो वह उसे करले। किसी के लिए कोई रोक नहीं है। (३) अध्यापन, राज्य पालन, न्यायधीश और व्यापार आदि कार्य स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। (३) रसोई बनाना आदि सेवा का कार्य शूद्रों का कर्म है द्विजमहिलाओं का नहीं।

एक समय था जब चक्की पीसना, पानी भरना सूत कातना आदि सेवा के काम केवल महिलाओं के ही समझे जाते थे। देहातों में तो, अब भी ऐसा ही

है। कभी-कभी यह भी दृश्य देखने को मिल जाते थे कि पुरुष तो कंधे पर लाठी रखे अकड़ कर आगे-आगे चला जा रहा है, और तथाकथित, अबला महिला बेचारी सिर पर भार उठाए पीछे-पीछे जा रही है। यह सब दो कारणों से था (१) पुरुषों का प्रभुत्व और महिलाओं पर अत्याचार (२) महिलाओं में शिक्षा का अभाव। वेद की मर्यादा स्त्री पुरुष के लिये समान ही है। दोनों को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है और जो पढ़ाने से भी न पढ़े वही शूद्र है। फिर चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष, उसे तो सेवा कार्य ही करना होगा। और जो शिक्षा प्राप्त कर सकें वे द्विज कहलावें अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य। फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष अपने वर्ण का काम करें।

वैदिक समाज में नर और नारी के समान स्थान का एक और प्रमाण महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के ११वें समुल्लास में दिया है। वहाँ वे वेद ब्राह्मण, उपनिषद् और मनुस्मृति के उद्धरण देकर लिखते हैं कि 'सच्ची वेदोक्त और वेदानुकूल देवपूजा मूर्तिपूजा यह है। (१) माता (२) पिता (३) आचार्य (४) अतिथि और (५) स्त्री के लिये पति और पुरुष के लिये पत्नी ये पाँच मूर्तिमान देव पूजनीय हैं। जरा नर नारी की समानता देखिये। स्त्री के लिये पति पूज्य है तो पुरुष के लिये भी पत्नी पूज्या है। क्या नर और नारी की इससे अधिक समानता किसी और समाज में है ?

अब जरा इस बात पर भी विचार करें कि पश्चिमी सभ्यता में जहाँ काम-वासना की तृप्ति को आवश्यक और सन्तानोत्पत्ति को अवाञ्छनीय कार्य समझा जाता है वहाँ वैदिक समाज में उत्तम सन्तान की उत्पत्ति और निर्माण को एक धार्मिक आवश्यक कर्म और विषय वासना की पूर्ति को अवांछनीय समझा जाता है। चतुर्थ समुल्लास में महर्षि दयानन्द लिखते हैं 'स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से सन्तान उत्पत्ति करना'। इसके कुछ आगे लिखते हैं 'जो विवाहित स्त्री-पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें तो कामी और निंदित होते हैं अर्थात् निर्वाह सन्तानोत्पत्ति के लिये ही किया जाता है पशुवत् काम-क्रीड़ा के लिये नहीं। वैदिक समाज में नारी विषय-वासना की पूर्तिमात्र का साधन नहीं है, अपितु संतान के निर्माण में एक प्रमुख साझीदार है। कृष्ण और रुक्मिणि ने १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके प्रद्युम्न का निर्माण किया था। यह संयम और त्याग का मार्ग ही वैदिक आदर्श है।

विश्व निर्माण में नारी का दायित्व

श्रीमती प्रकाशवती एम० ए०
१४, जैन मन्दिर कम्पाउण्ड, नई दिल्ली

नारी को भारतीय संस्कृति में सर्वोच्च पद दिया गया है। उस पर विश्व निर्माण का भारी दायित्व है। वह जैसा चाहे युग को बना सकती है। लेख में उसी को दायित्व का स्मरण कराया गया है। श्रावणी के पावन पर्व पर आवश्यकता है नारी 'ब्राह्मण' बन अपनी साधना से युग परिवर्तन का संकल्प ले।

प्राचीन समय का वर्णन है—एक व्यापारी बैलगाड़ी में सामान लाद कर अन्य ग्राम में बेचने के लिए जा रहा था। रास्ता ऊबड़-खाबड़ था। गाड़ी कभी ऊपर होती, कभी नीचे। सामान का भार भी कम न था। बैल बेचारे मूक सेवक चुपचाप खींचते चले जा रहे थे। आकाश में चंडांशु अपनी धूप बिखेर रहे थे। प्रातः जल्दी में कदाचित् उस व्यापारी ने बैलों का दाना-पानी भी थोड़ा ही दिया था। दोनों बैल गाड़ी को खींचते-खींचते थक चुके थे। व्यापारी गाड़ी में लेटा हुआ ऊंघ रहा था। गाड़ी की चूं-चूं से उसकी नींद और भी गहरी हो रही थी। अचानक एक बड़ा पत्थर आ गया। एक बैल उससे टकराया, उसका घुटना टूट गया। बैल तो गिरा ही, साथ ही वह गाड़ी और गाड़ी वाला भी। गाड़ीवाला जल्दी से उठा, उसने अपने सामान को जैसे-तैसे सम्भाला। बैल को खड़ा करने का बड़ा यत्न किया, पर वह न

उठा। हताश व्यापारी अपना माल और गाड़ी आदि को वहीं छोड़ एक समीप के गांव में पहुँचा। वहाँ एक बैल खरीदा। उस बैल को लाकर गाड़ी में जोड़ा, गाड़ी चल पड़ी। टूटे घुटने वाले बैल को राम भरोसे छोड़ कर व्यापारी आगे चला गया।

क्या समझे? "**नहि एकेन चक्रेण रथस्य गतिर्भवेत**" "रथ एक पहिये से नहीं चल सकता।" तो यह विश्व का रथ क्या एक पहिए से चल सकता है? नहीं न कभी चला, न चलेगा।

इस रथ के पहिए कौन हैं? नर और नारी। स्त्री और पुरुष। विश्व की बड़ी से बड़ी इकाई समस्त संसार ले लीजिए, और छोटी से छोटी इकाई व्यक्ति ले लीजिये। किसी का निर्माण अकेले नर से न हुआ है न हो सकता है।

निस्सन्देह जगन्नियन्ता ईश्वर ने नर और नारी में कुछ विशेषताएं प्रदान की हैं। परन्तु क्या कोई उन विशेषताओं को परस्पर विरोधी कह सकता है? कदापि नहीं। तो वे क्या हैं? वे हैं एक दूसरे की पूरक। एक दूसरे की सहायक नर नहीं तो संसार नहीं, नारी नहीं तो संसार नहीं। इनका समरूप से कार्य करना ही विश्व को गतिशील बनाता है। निर्माण पथ की ओर अग्रसर करता रहता है।

किसी युग में पुरुष ने समझा संसार मेरा है। मैं पुरुष हूँ। मेरे में पौरुष है। मैंने बड़े-बड़े जंगलों को बसाया। बड़ी-बड़ी नदियां बनाईं। खेत बनाए। अनाज उगाया। रेलें बनाईं। विविध आविष्कार किए। संसार की हरयाली का कारण में हूँ। सारे संसार की खुशहाली का साधन मैं हूँ। और नारी? नारी कुछ नहीं, यह तो है मेरे पैर की जूती, यह तो है घर की तुच्छ सेविका यह तो है उसके आधार पर जीने वाली यहाँ तक कि धर्मशास्त्रों में भी लिख डाला। "नारी नरकी एक पसली को लेकरबनाई गई है। नारी नरकस्य द्वारम्" विश्वासी नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।" नारी में आठ अवगुण हैं। नारी का जन्म पापों का परिणाम है। आदि-आदि। न जाने क्या क्या लिख डाला इस पुरुष कहलाने वाले स्वार्थी जीव ने।

आर्य बाल गृह तथा आर्य कन्या सदन

पाटौदी हाउस, दरियागंज, दिल्ली

को अपनाइये

यह दिल्ली प्रदेश के आर्यसमाजों की ओर से भारत में अपने प्रकार की सबसे बड़ी संस्थायें हैं जिनमें निस्सहाय बालक और बालिकाओं की संख्या बढ़ते-बढ़ते ३०० और २०५ कुल ५०५ होगई है। इनके रहन-सहन, भरण-पोषण, शिक्षण आदि के लिये ३ लाख रुपये इस वर्ष चाहिएं।

सब बालक-बालिकाओं को स्कूल-शिक्षा दिलाई जाती है। स्कूल में दिये कार्य को पूरा कराने के लिए संस्थाओं में योग्य अध्यापक नियुक्त हैं, जिसके फलस्वरूप वार्षिक परिणाम ८५-९० प्रतिशत रहता है। स्कूलों में दूसरे बालकों से मिलते समय यहां के बालक अपने आप को कम न समझें अतः उनको कपड़े आदि भी दूसरों जैसे ही देने होते हैं।

सदाचार उन्नति के लिए प्रसिद्ध विद्वान श्री आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री की अध्यक्षता में धर्म-शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है। नित्य प्रति प्रातः साय विशाल 'श्रीमती चन्द्रवती चौधरी यज्ञ मन्दिर' में सम्मिलित सन्ध्या-हवन तथा विद्वान, साधु महात्माओं के प्रवचन, उपदेश और व्याख्यान कराये जाते हैं। सब बालक बालिकाओं को वेदमन्त्र, नीति-श्लोक तथा आदर्श वाक्य कंठस्थ कराये जाते हैं और धार्मिक पुस्तकें पढ़ने को दी जाती हैं।

बालक बालिकाओं के पृथक्-पृथक् विशाल भवन हैं, परन्तु बढ़ती हुई संख्या के लिये और कमरों की आवश्यकता है। रुग्ण बालकों के लिये दोनों संस्थाओं में अपनी-अपनी डिस्पैन्सरियां हैं जिनमें सभी आवश्यक औषधियों का प्रबन्ध रखना होता है। स्वास्थ्य के लिए खेल के सामान तथा साधन भी जुटाने होते हैं। यह सब व्यय आप महानुभावों के सहारे ही हो रहा है।

कोई भी बालक किसी भी अवस्था में कहीं मांगने नहीं भेजा जाता।

आर्य कन्या सदन की बालिकाएँ

आर्य बाल गृह के बालक

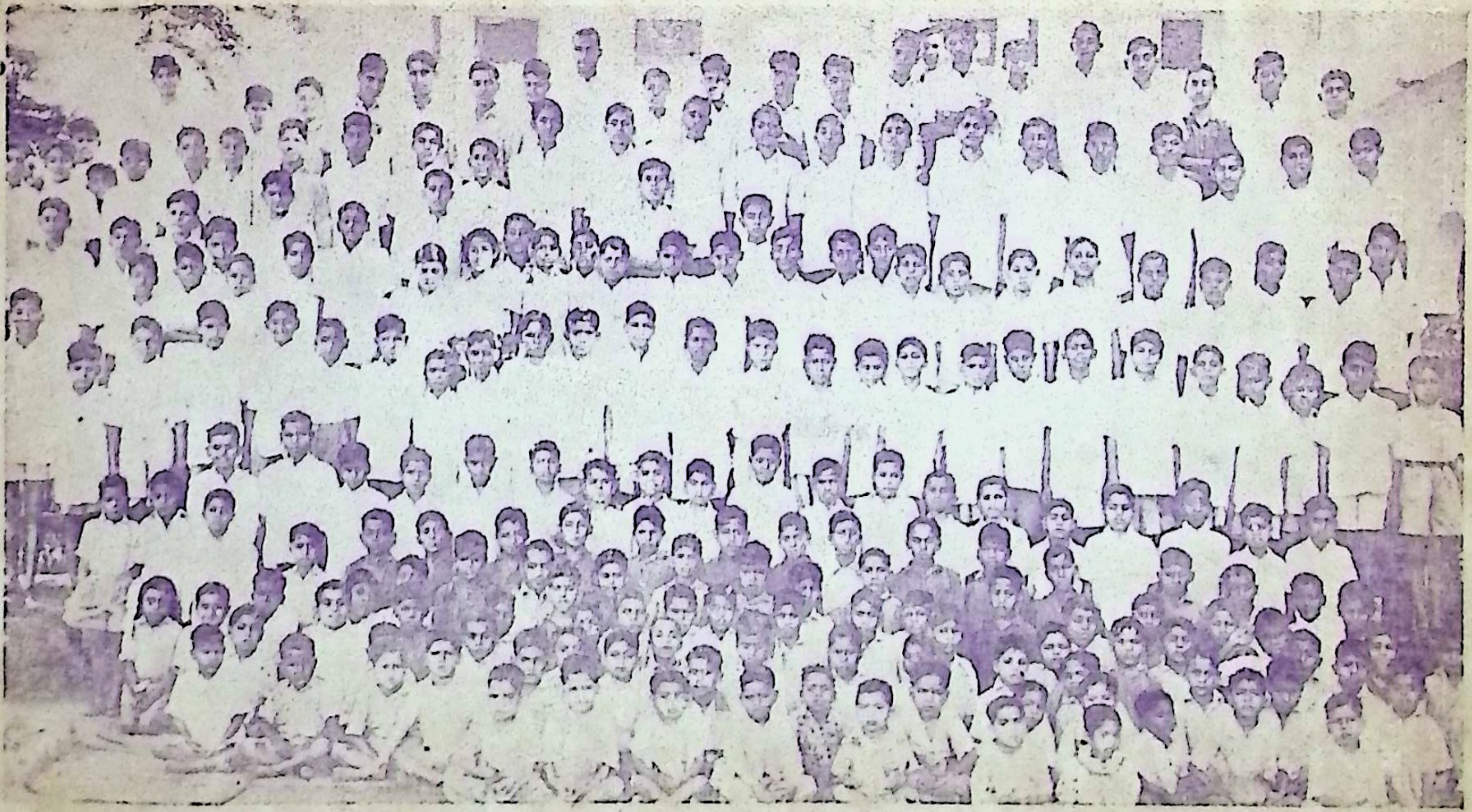

आर्य बाल गृह तथा आर्य कन्या सदन दोनों संस्थाओं के प्रबन्ध की देश के गण्य मान्य महानुभावों ने बहुत २ प्रशंसा की है। आर्य समाज के कर्मठ नेता श्री देसराज जी चौधरी भूतपूर्व उप-महापौर, दिल्ली कारपोरेशन, संस्थाओं के प्रधान हैं। वयोवृद्ध कार्यकर्त्ता श्री मास्टर शिवचरण दास जी मन्त्री, विख्यात श्रीमती मनमोहिनी जी सहगल उपप्रधान और श्री कृष्णदास जी भुटानी कोषाध्यक्ष हैं।

उत्तम प्रबन्ध का ही परिणाम है कि आर्यसमाजों को, कांग्रेस कमेटी को, भारत सेवक समाज को, पुलिस को, मेजिस्ट्रेटों को अथवा अन्य किसी भी व्यक्ति या संस्था को जब कभी कोई अनाथ बालक या बालिका मिलती है, वे तुरन्त उसे हमारे पास बड़े विश्वास के साथ भेजते हैं।

इतने बड़े कार्य के लिये हमें आपका सहयोग अवश्य चाहिये। कृपया निम्नलिखित प्रकारों से हमारी सहायता करें :—

१. किसी बन्धु की स्मृति में अपनी पुण्य कमाई से कमरा बनवाकर।
२. २०००), १०००), ५००) अथवा जो भी आप चाहें दान देकर।
३. अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा परिचितों से दान दिलवा कर।
४. एक या अधिक बालकों के पालक-पोषक बनकर (प्रत्येक बालक पर ४५ रु० मासिक व्यय होता है)।
५. २५), २०), १०), ५), २), आदि के हमारे मासिक सदस्य बनकर (इस समय लगभग डेढ़ हजार भाई और बहनें हमें मासिक सहायता देते हैं)।
६. त्योहारों, संस्कारों और अन्य अवसरों पर अपना भाग भिजवा कर।

जो भी राशि आप संस्था को देंगे उस पर इन्कमटैक्स की छूट है।

आशा है परोपकारी परमात्मा के अमृत पुत्र होने के नाते इस परोपकार यज्ञ में आपका भाग अवश्य मिलेगा। जब भी कभी आपको अवसर मिले अवश्य दर्शन दें और संस्थाओं का निरीक्षण करें। हमें विश्वास है आपको पूर्ण प्रसन्नता होगी। भारत भर में अपने ढंग का निराला नवनिर्मित 'श्रीमती चन्द्रवती चौधरी यज्ञ मन्दिर' ही आपके मन को हर लेगा।

आपकी सहायता की प्रतीक्षा में—

महेन्द्रकुमार शास्त्री, अधिष्ठाता

"मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद" माता, पिता, गुरु तीनों मिलकर पुरुष का निर्माण करते हैं। अब देखिए इसमें माता की गणना सर्वप्रथम है। क्रियात्मक रूप में भी हम देखते हैं। जन्म ही नहीं वरन् पालन कार्य में भी पिता को माता की सहायता की जितनी आवश्यकता होती है उतनी माता को पिता की नहीं, इसी कारण शायद पुरुषों में पुनर्विवाह की प्रथा चली आ रही है।

अभी उस दिन एक दैनिक समाचार पत्र में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि एक मास का सुन्दर शिशु एक स्थान पर अपने वस्त्र तथा दूध की बोतल सहित पड़ा हुआ पाया गया। उसके साथ ही हृदयद्रावक पत्र था—जिसका भाव निम्नलिखित है—

"इस शिशु की मां मर गई अतः मैं इसके पालन पोषण में असमर्थ हूँ। विवश होकर इसे इस आशा से यहाँ छोड़ रहा हूँ कि कदाचित् कोई दयालु माता पिता इस का पालन पोषण कर लेंगे।"

यह पत्र इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पुरुष के निर्माण में नारी का नर से भी अधिक दायित्व है। न केवल व्यक्ति के शारीरिक निर्माण में वरन् उसके बौद्धिक निर्माण में भी नारी का दायित्व अत्यन्त महत्व रखता है सारे संसार के महापुरुषों की प्रेरिका नारी ही तो है। विश्वास न हो तो फ्रांस के प्रसिद्ध विजेता नैपोलियन से पूछिये, महाराष्ट्र के निर्माता तिलक, राम, कृष्ण का जीवन टटोलिए। आधुनिक युग के निर्माता महात्मा गांधी की माता पुतलीबाई का परिचय प्राप्त कीजिए। मंदालसा की चमत्कार पूर्ण शिक्षाओं पर ध्यान दीजिए।

व्यक्ति ही मानव समाज का मूल है। अतः भिन्न-भिन्न क्षेत्र किसी न किसी रूप में उसी के निर्माण में लगे हैं और प्रत्येक क्षेत्र में सहयोग देना नारी का कर्त्तव्य है। नारी केवल जननी ही नहीं शिक्षिका भी है। इसी क्षेत्र में जहाँ विदेश में कुमारी मौण्टिसरी आदि नारियों ने नए-नए अनुभव और नई शिक्षण विधियाँ विश्व के सम्मुख रखीं, भारत की नारियों ने लोरियों-कहानियों से ही बच्चों को उच्च विचार और आदर्श देकर अपने दायित्व को निभाया है। सीता, शकुन्तला, जीजाबाई आदि का नाम इस विषय में

उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त राजनैतिक क्षेत्र में भी भाग लेना नारी का कर्त्तव्य है। वेद में ऐसे मन्त्र भी आते हैं, जिनमें यह लिखा है कि जहाँ राजा का कर्त्तव्य है कि पुरुषों का न्याय करे, वहाँ रानी का कर्त्तव्य है कि स्त्रियों का न्याय करे। इतिहास भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि समय-समय पर नारियों ने शासन कार्य को भी सम्भाला है। प्राचीन युग में महारानी अहल्याबाई, दुर्गावती, चांदबीबी, लक्ष्मीबाई और आधुनिक युग में सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, श्रीमती इंदिरा गांधी आदि के प्रमाण प्रस्तुत हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि व्यक्ति, समाज, देश और विश्व के निर्माण में नारी का दायित्व पुरुष से कहीं अधिक है। जब भी कोई देश व समाज इस सत्य को भूल जाता है अथवा किसी कारणवश इसकी उपेक्षा करता है उस समाज का अथवा देश का घोर पतन होता है। भारत में मध्य युग में नारी को पुरुष ने केवल अपनी भोग्य सामग्री समझ कर इसका अपमान किया, इसे शिक्षा तथा अन्य समस्त अधिकारों से वंचित रखा तो देश में कष्टों, दुखों, कुरीतियों, रूढ़ियों की बाढ़ आ गई। जैसे काली कराली अंधकार मयी निशा में चोरों डाकुओं की बन आती है उसी प्रकार नारी समाज के अंधकारमय युग में पोप, पुजारी तथा पाखण्डियों की बन आई थी। इससे धन जन का नाश तो हो ही रहा था, इसका प्रभाव देश की राजनैतिक अवस्था पर भी पड़े बिना न रह रका। नारी समाज के सारे दुर्गुण दुगुने चौगुने हो कर पुरुष समाज में भी आ धमके। शौर्य, धैर्य और आत्मविश्वास को ये दुर्गुण घुन की भाँति खोखला कर गए। विदेश ठग तो घात में थे ही। उन्होंने ऐसे अवसर से लाभ उठाया। हमारा देश दासता की कठिन जंजीरों में इतनी बुरी तरह से जकड़ गया कि सदियों के बलिदान और जनसंहार से ही वे कट सकीं और अभी भी केवल राजनैतिक दासता ही तो दूर हुई है। मानसिक दासता तो अभी भी वेष और भाषा के रूप में विद्यामान है। भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों से तो अभी भी कोसों दूर हैं। अभी भी हमारी जिह्वाओं और पत्रों में अंग्रेजी भाषा का बोल-बाला है। अभी भी हमारी वेषभूषा तीज त्योहारों पर अंग्रेजी सभ्यता की

छाप है। अभी भी हम अपने बच्चों के जन्म दिन मोमबत्तियाँ बुझा कर मनाते हैं। आज भी हमारे बच्चे विदेशी शिक्षिकाओं से शिक्षा प्राप्त करते हैं हमारे देश और समाज में, सिनेमा में, मनोरंजन में, सर्वत्र अंग्रेजियत छाई है। यह सब क्यों है ? इस दासता से भारत को कौन छुड़ाएगा ? इस भारत को पूर्णतया भारत कौन बनाएगा ? इसका एक ही उत्तर है—नारी। क्योंकि वह जहां एक ओर पुरुष की हृदय साम्राज्ञी है वहाँ घर की और समाज की शासिका भी है। प्रेरिका भी है। परन्तु पहले उसे अपने आप को पहिचानना होगा। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से अपनी आंखों को दूर रखना होगा। अपने देश की संस्कृति की महत्ता को मानना होगा। शिक्षा, शिक्षा यह कैसी है ? जो नारी को स्वार्थी और दम्भी बना रही है। विलासिता प्रिय बना रही है। और यदि विचारणीय दृष्टि से देखा जाए तो नारी की उच्छृंखल और विलासप्रिय तृप्ति ने ही आज भ्रष्टाचार रूपी राक्षस को अशान्ति को जन्म दिया है। आज विश्व की नारी को अपना दायित्व समझना होगा। नारी ही भ्रष्टाचारी रूपी राक्षस का विध्वंस कर सकती है। यद्यपि विश्व की प्रत्येक नारी का यह पवित्र कर्त्तव्य है परन्तु भारतीय नारी का कर्त्तव्य विशेष रूप से, क्योंकि भारत सदा से ही जगद्गुरु रहा। आज भी भारत की नारी को विश्व की नारी का गुरू बनकर उसका पथ प्रदर्शन करना होगा। उन्हें त्याग और तपस्या का आदर्श सिखा कर विश्वशांति का साम्राज्य स्थापित करना होगा।

भ्रष्टाचार और अहिंसा आज के दो मुख्य अजगर हैं। जो कि आज की विश्वशांति और कल्याण को निगल रहे है। इन दोनों से मानव तभी बच सकता है यदि यह अपने जीवन को उच्च और सादा बनाएगा, जब अपने जीवन में से विलासिता स्वार्थपरता और दम्भ को निकाल फेंकेगा।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
के

महत्व पूर्ण प्रकाशन

प्रचार की दृष्टि से लागत मात्र मूल्य पर तैयार किये गये हैं।

१—कुलियात आर्य मुसाफिर

धर्मवीर पं० लेखराम जी की अमूल्य कृति कुलियात आर्य मुसाफिर पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद। पृष्ठ ४२५, बढ़िया कागज, आकर्षक टाइटल। मूल्य मात्र ६ रु०।

२—स्वतन्त्रानन्द लेखमाला

आर्य समाज के लौह पुरुष वीतराग सन्यासी श्री स्वामी स्वन्तत्रानन्द जी के विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संग्रह। स्वाध्याय के लिये उत्तम सामग्री। पृष्ठ संख्या २४० मूल्य केवल १-२५।

३—वैदिक सत्संग पद्धति

सभी आर्य समाजों के सत्संगों में एकरूपता लाने के लिये इसका प्रकाशन किया है। इसमें सन्ध्या, प्रार्थना तथा हवन मन्त्रों के अर्थ सरल भाषा में दिये गये हैं। ४० के लगभग उत्तम गीतों का भी संग्रह। पृष्ठ ९० बढ़िया कागज मूल्य केवल ४० नये पैसे।

४—वैदिक धर्म की विशेषतायें (ट्रैक्ट)

पं० हरिदेव। १०० प्रतियों का मूल्य केवल १० रु० है।

५—धर्मवीर पं० लेखराम

अमर शहीद पं० धर्मवीर लेखराम का जीवन चरित्र अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा लिखित हैं। पृष्ठ १२५ बढ़िया कागज, आकर्षक टाइटल मूल्य १-२५।

६—बलिदान-जयन्ती-स्मृति-ग्रन्थ

इसमें आर्य समाज के सभी शहीदों का जीवन चरित्र उनके चित्रों सहित दिया गया है। इसका मूल्य प्रचारार्थ ४.५० से ३ रु० कर दिया है।

७—वेदों का यथार्थ स्वरूप

आजकल चारों ओर से वेदों पर कीचड़ उछाला जा रहा है। गुरुकुल कांगड़ी के विद्वान स्नातक पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड ने उन सभी आक्षेपों का मुँह तोड़ उत्तर दिया है। मूल्य ६.५० है।

८—आर्य समाज के प्रवेश पत्र

१०० प्रतियों का मूल्य १.२५ है।

९ Principles of Arya Samaj
by Late Shri Chamupati M.A.
(प्रिंसिपल्स आफ़ आर्य समाज)
स्व० श्री चमूपति एम० ए० लिखित

प्रचार के लिये अपूर्व भेंट। बढ़िया कागज। उत्तम छपाई, आकर्षक आवरण पृष्ठ संख्या १३२। मूल्य केवल १ रु० २५ नये पैसे मात्र। १० या अधिक प्रतियों के मंगाने पर मूल्य १ रु० प्रति।

१०—नीहारिकावाद और उपनिषद्

स्व० पं० चमूपति एम० ए० लिखित—अत्यन्त प्रभाव पूर्ण ट्रैक्ट, जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति पर वैदिक दृष्टिकोण विद्वानों की आँखें खोलने वाला है। १८×२२/४ साइज पर, पृष्ठ २४। मूल्य २५ नए पैसे, २० रु० सैकड़ा।

११—संसार को आर्य समाज का संदेश

पं० भारतेन्द्र नाथ "साहित्यालंकार" लिखित—यह ट्रैक्ट प्रचार के लिये अत्युपयोगी है। भेंट में देने और वैदिक विचार धारा प्रसार के लिये सवल साधन—२०×३०/१६ बड़ा साइज, पृष्ठ ३२। मूल्य १० नए पैसे, २५० के २० रु०, ५०० के ३५ रु०, एक हज़ार के ६० रु०।

१२—आर्य समाज क्या मानता है ?

श्री पं० मदनमोहन 'विद्यासागर' कृत-अधिक मांग होने पर दूसरा संस्करण तैयार है। छोटा साइज, पृष्ठ ३२। मूल्य ५ पैसे। २५० का मूल्य १० रु०। ५०० का १८ रु०। एक हजार का ३० रु०।

१३—आर्यसमाज दर्शन

आर्यसमाज के प्रसिद्ध लेखक प्रिंसिपल रामचन्द्र जावेद एम० ए० आर्यसमाजों के सिद्धान्तों तथा कार्यों का संक्षिप्त परन्तु सरल भाषा में विवरण। पृष्ठ संख्या १५८, बढ़िया कागज मूल्य २ रु०।

१४—आर्यसमाज के महापुरुष

प्रिंसिपल रामचन्द्र जी जावेद एम० ए० आर्यसमाज के महापुरुषों की जीवनियां अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ढंग से लिखी गई है। मूल्य २ रु०।

१५—अष्टोत्तर शतनाम मालिका

(सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास का भाष्य) इस अमूल्य ग्रन्थ के लेखक गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक वेदालंकार पं० विद्यासागर जी शास्त्री हैं। बढ़िया कागज सजिल्द मूल्य ६ रु०।

१६—सिख गुरु और आर्यसमाज के सिद्धान्त

ले० श्री स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी महाराज—श्री स्वामी जी महाराज जहाँ आर्य सिद्धान्तों के विद्वान थे वहाँ सिख सिद्धान्तों के भी मर्मज्ञ थे। इस पुस्तक में आर्यसमाज के सिद्धान्तों तथा सिख गुरुओं के मन्तव्यों का सुन्दर ढंग से समन्वय गया है। पृष्ठ संख्या २०८ मूल्य १.७५।

१७—विदेशों में एक साल

ले० श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज। इस पुस्तक में पूर्वी अफ्रीका और मारीशस आदि में भारतीयों का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सघर्ष तथा वहाँ का आँखों देखा वृतान्त सरल तथा रोचक भाषा में लिखा गया है। मूल्य २.२५।

अपना आदेश आज ही भेजिये

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब गुरुदत्त भवन जालन्धर

खांसी, जुकाम, इन्फ्लूएन्जा, अपचन तथा थकान आदि में
गुरुकुल कांगड़ी
चाय
आप के स्वास्थ्य की रक्षा करती है।
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार
C.Has.
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी-हरिद्वार

ग्रीष्म ऋतु में—

जब गर्मी से आप बेहाल हों और प्यास के मारे बेचैन हों—

जब कण्ठ सूख रहा हो, चित्त में घबराहट हो और गर्मी की अधिकता से सिर चकरा रहा हो। जब सूर्य की तीव्र किरणें धरती की छाती जला रही हों और लू के झंझावात आपको हांफने पर मजबूर कर रहे हों।

ऐसे समय में—

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार) द्वारा निर्मित

शांति सुधा शर्बत या ब्राह्मी शर्बत

एक गिलास आपके लिये अमृत के समान लाभकारी तथा हिम के समान शीतलता व शांति प्रदान करेगा—प्रत्येक घूंट आप को नवीन स्फूर्ति तथा नव जीवन प्रदान करेगा।

याद रखिए—

लू से बचने, मस्तिष्क को शान्त व ठण्डा रखने तथा प्यास को बुझाने के लिये—

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की दो विशेष भेंट—औषधियुक्त शरबत

शांति सुधा तथा ब्राह्मी शरबत

अत्यन्त स्वादिष्ट, सुमधुर तथा शीतल पेय

स्थानीय विक्रेता से खरीदें

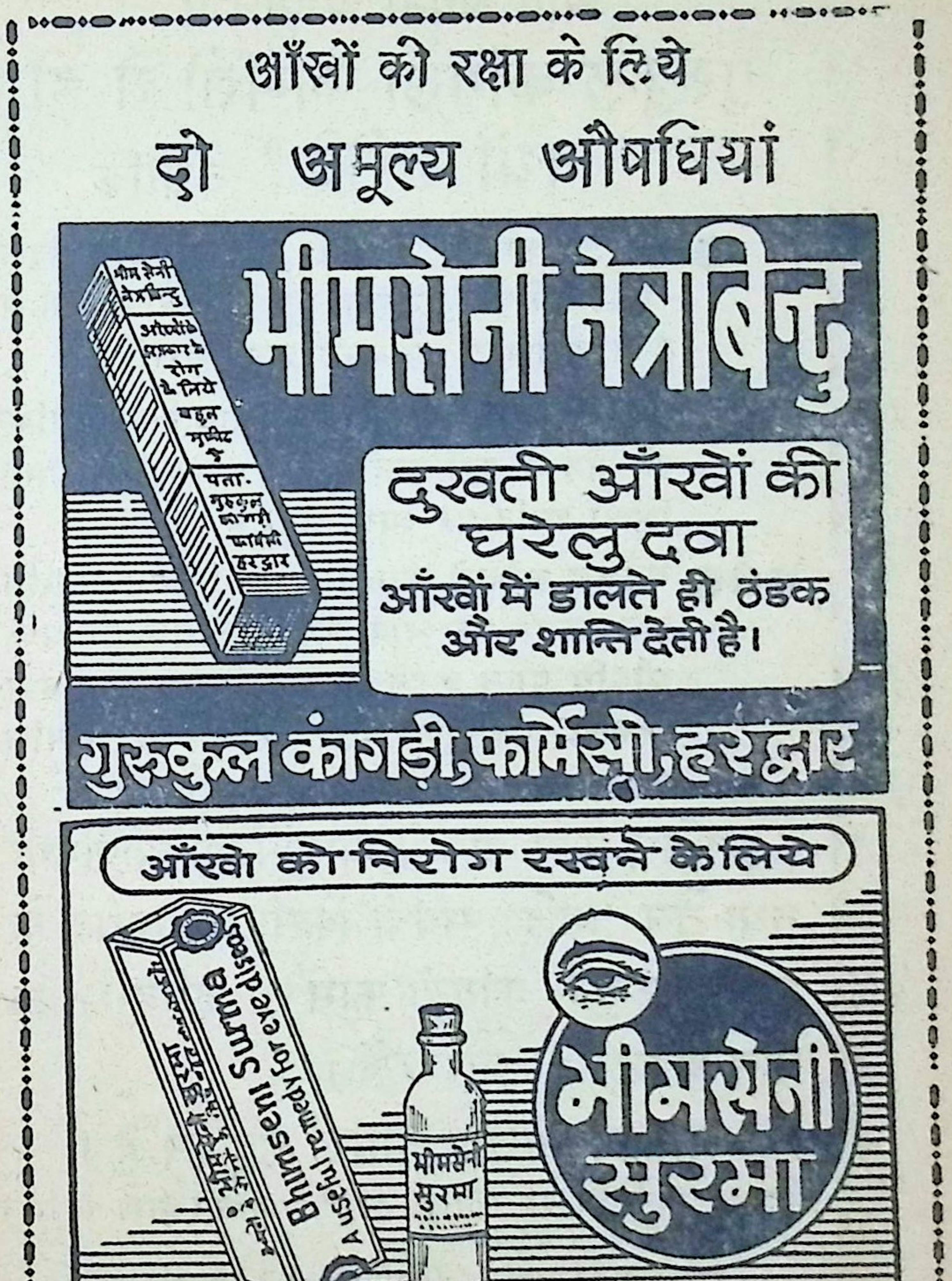

आँखों की रक्षा के लिये
दो अमूल्य औषधियां
भीमसेनी नेत्रबिन्दु
दुखती आँखों की
घरेलु दवा
आँखों में डालते ही ठंडक
और शान्ति देती है।
गुरुकुल कांगड़ी, फार्मेसी, हरद्वार
आँखो को निरोग रखने के लिये
Bhimseni Surma
A useful remedy for eye diseases
भीमसेनी सुरमा
भीमसेनी
सुरमा
गुरुकुल काँगड़ी, फार्मेसी, हरद्वार

आप अपनी औषधियाँ

गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी से ही क्यों खरीदें ? क्योंकि :—

● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण पूर्ण शास्त्रोक्त ढंग से तथा सर्वश्रेष्ठ उपादानों द्वारा करती है,

●● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की आय किसी व्यक्ति की जेब में नहीं जाती, वरन् आपके बच्चों की शिक्षा आदि पर व्यय होती है।

●●● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी द्वारा निर्मित औषधि क्रय करने पर आप जहां निश्चय ही श्रेष्ठ औषधि प्राप्त करते हैं साथ ही आपकी जेब से निकला एक-एक पैसा राष्ट्र के निर्माण तथा जनता की सेवा में खर्च होता है।

इसलिए आप अपनी आयुर्वेदिक औषधियों तथा तैल आदि संबंधी किसी भी खरीद के समय गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार) का नाम अवश्य ही याद रखें।

आपका सन्तोष हमारा उद्देश्य है।

नोट :— १. किसी भी रोगी के सम्बन्ध में पत्र द्वारा या मिल कर सम्मति प्राप्त करें।

२. गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की औषधियाँ बेचने के लिये नियम मुफ्त मगावें।

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार)

गुरुकुल कांगड़ी का
च्यवनप्राश
विविध प्रकार की कमजोरियों से रक्षा करता है
हिमालय के
ताज़े आँवलों से निर्मित
प्राकृतिक
विटामिन सी, लौह
तथा
कैलशियम से भरपूर
च्यवनप्राश
शरीर की निर्बलता पुरानी
व पुराना बुखार आदि
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
ॐ
हरद्वार
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरद्वार

फोन ३०५५३ ★ ओ३म् सत्यमेव जयते ★ तार : कमलराज

हर प्रकार के कपड़े के कमीशन एजेन्ट्स

★ फायदे से खरीदी ★ शीघ्र प्रश्नोत्तर

★ शीघ्र चालानी ★ भाव आदि मुफ्त

परचून खरीदी का विशेष प्रबन्ध

भगवानदेव आर्य एण्ड कं० ४५ चम्पागली

पोस्ट बाक्स नं० : २४१५ बम्बई—२

कपड़ा खरीदते समय आप "महर्षि टेक्सटाईल्स" को अवश्य याद रखें।

रंगीन वायल	कोटा धोती	धुली धोती	धुला मलमल
आर्य रमणी	मेघदूत	आर्य प्रकाश	प्रियाराणी
आर्य नंदनी	अशोक कुमार	आर्यकिरण	कमला रानी
आर्य कन्या	आर्य मित्र	देव किरण	B ८७६
आर्य कुमार	६३०००	कलराज	B ३९६
शोभा कुमारी	६४०००	भरतराज	
राजकुमारी	६५०००-५५५	प्यूरगुड़	

भगवानदेव आर्य एण्ड संस

दुकान फोन नं० ३९४९३ आफिस

माधवरावगली एम० जे० मार्केट बम्बई-२. ४५ चम्पागली एम० जे० मार्केट बम्बई-२

कम्पनी स्थापित १९५३ पुरानी विख्यात विश्वसनीय कम्पनी

व्यापारी भाइयों, उद्योगपतियों तथा धन लगाकर अधिकतम लाभ प्राप्त करने के इच्छुकों के लिये

स्वर्ण अवसर

ऐसे अवसर बार-बार हाथ नहीं आते। छोटे-बड़े कारखानों के लिए हमारी अनुपम भेंट।

आर्य नगर "इण्डस्ट्रियल एस्टेट"

शाहदरा सहारनपुर रोड।

मूल्य १५) रु० प्रति वर्ग गज

चाहे कारखाना लगाइए या रुपया लगाकर भविष्य में काफी लाभ प्राप्त कीजिये। कुछ विशेतायें—

१. कालोनी का नक्शा सरकार से स्वीकृत।
२. कुल जमीन कम्पनी की खरीद पूर्ण रकम देकर।
३. जमानत सरकार के पास जमा की जा चुकी है।
४. कारखाने का नक्शा पास जाता है। सरकारी लोन, बिजली, कोटा आदि की पूर्ण सुविधायें।
५. पूर्ण मूल्य देकर ग्राहक के नाम तत्काल रजिस्ट्री तत्काल कब्जा।
६. देहली की मार्कीट-सदर, चांदनी चौक, सब्जी मण्डी से समीपतम कालोनी।
७. कालोनी के बिल्कुल साथ लगी हुई सरकार इण्डस्ट्रियल एस्टेट की सब फैक्टरियों में बिजली आ चुकी है और काम चालू हो चुका है।
८. हमारा नम्रतापूर्वक चैलेंज है कि इससे अच्छे कारखानों के प्लाट आप देहली के आस-पास और कहीं नहीं पा सकेंगे। प्लाट लेकर और उस पर बिल्डिग बनाकर आप अच्छा किराया भी पा सकते हैं।

ऐसी सुन्दर आकर्षक व लाभदायक स्कीम यथार्थ में आपके अति हित में है यह स्कीम आपको कुछ समय पश्चात् प्लाटों के मूल्य में वृद्धि होने से अच्छा लाभ पाने, बिल्डिग बनाकर अच्छा किराया पाने तथा इन्डस्ट्री लगाने का अवसर प्रदान करती है।

देहली आदर्श फाइनैन्शियर्ज (प्रा०) लिमि०
ए ४/१६ कृष्ण नगर, दिल्ली-३१

फोन { आफिस : 212028
गृह : 212388

अपने नगर में
वैदिक धर्म का सन्देश गुञ्जाने के लिए
आर्योदय की एजेंसी लें
व्यवस्थापक 'आर्योदय', १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली

प्रत्येक वस्तु को
रजिस्टर्ड-पेटेन्ट
कराने के लिये लिखें या मिलें।
डा. एस. एन. गुप्तः एण्ड सन्
मसना आफिस, मुरादाबाद.
टेलीफोन : 199 तार: मसना

मस्तिष्क एवं हृदय
सम्बन्धी भयंकर, पागलपन, मृगी, हिस्टीरिया, पुराना सरदर्द
ब्लडप्रेशर, दिल की तीव्र धड़कन, तथा हार्दिक पीड़ा
आदि सम्पूर्ण पुराने रोगों के परम विश्वस्त निदान
तथा चिकित्सा के लिए परामर्श कीजिए—
कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि
मुख्याधिष्ठाता—कन्या गुरुकुल हरिद्वार
मुख्य सम्पादक—'शक्ति सन्देश' साप्ताहिक कनखल
संचालक—आयुर्वेद शक्ति-आश्रम कनखल
पो० आ० गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)
फोन नं० कार्यालय ६०, निवास ७७

आवश्यकता है—

ऐसे भाग्यशाली भाइयों की जो अपने सुन्दर
गृह के लिए हमारी विश्वसनीय

एक सर्वश्रेष्ठ कालोनी

"लक्ष्मी नगर

में

एक प्लाट अवश्य लेवें

मूल्य १०) रु० गज

एक स्वर्ण अवसर

जिससे आपको तत्काल लाभ उठाना चाहिए हमारे अपने बने बनाये सुन्दर कोठीनुमा मकान "लक्ष्मी नगर" में दो कमरे, बरामदा रसोई, गुसलखाना, चार दिवारी, हैण्डपम्प।

मूल्य केवल ७०००) रु०।

ऐसे अवसर आपको फिर नहीं मिलेंगे

पुरानी विश्वसनीय कम्पनी

स्थापित १९५३

जनता की सेवा का अद्वितीय रिकार्ड

तार का पता : "BEST PLOTS"

देहली आदर्श फाइनैंन्शियर्ज (प्रा०) लिमि०
ए ४/१६ कृष्ण नगर, दिल्ली-३१

फोन { आफिस : 212028
गृह : 212388 }

अपनी

आवश्यकतायें

वर या वधू की खोज संबंधी,
अध्यापक अध्यापिकाओं के लिए
या

किसी भी वस्तु की बिक्री के
लिए

आर्योदय

में भेजिए

यह स्तम्भ सदा सेवा के
लिए उपस्थित है।